



# रत्नाकर और उनका काव्य



उपा जायसवाल  
एम० ए०, एल० टी०



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय  
वाराणसी—१

प्रकारक

ओम्प्रकाश बेरी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो० बाल्ल नं० ७०, शालबाड़ी, बाराबन्की—१

द्वितीय संस्करण—११००

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक

पं० रत्ननाथयण्ड उपाध्याय, बी० ए०

नया संतार प्रेस

भदईबी, बाराबन्की ।

## दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरी एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत निबंध का ही योजन-बहुत परिचित स्वरूप है। श्री रत्नाकर जी का 'उद्भव-उत्थक' आधुनिक ब्रह्मवादा का अग्रतम तथा हिन्दी साहित्य में, पुरानी परम्परा के अनुसार रचित, अरुण इंद्र का अमूलाग्र ग्रंथ है। इसी ग्रंथ के आकषण ने मुझे रत्नाकर के अन्य ग्रंथों को पढ़ने की प्रेरणा दी, जिसके फलस्वरूप यह छोटा सा निबंधन प्रस्तुत हो सका।

परिचितियों का जीवन पर तथा जीवन का काव्य पर आरोपण रूप में प्रयत्न प्रभाव पड़ता है अतः सर्वप्रथम रत्नाकर जी को उनकी परिचितियों के बीच एक कर, उनके प्रति न्यायपूर्ण आलोचनाएँ उत्पन्न करने का प्रयास है। इसके उपरान्त उनके काव्य का वर्गीकरण करते उनकी बहुमुखी प्रतिभा तथा व्यापक-दृष्टि का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। पुनः उन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली गई है। अन्त में रत्नाकर जी की विचारधारा के प्रवाह पर दृष्टिगत करते हुए उनका हिन्दी-साहित्य में उचित स्थान निर्धारित करने का प्रयास है। रत्नाकर जी के समकालिक ब्रह्मवादा के कवियों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

अज्ञेय आचार्य इबारीप्रसाद द्विवेदी जी ने एम० ए० में प्रबंध लिखने की मरी आकाशमूर्ति का मुझे अद्वैत प्रदान किया तथा अज्ञेय डा० श्रीकृष्णलाल जी ने निष्कल-निर्दोषता का उत्तरदायित्व लेकर मुझे अनुप्राणित किया, इसके लिए मैं आभारी हूँ। उनकी कृपा, सौजन्य, सद्-निर्दोषता एवं सहायता से ही प्रस्तुत पुस्तक पूरा हो सकी यह कहना आत्यन्तिक नहीं है। इसके मरा प्रयास अग्रतम तथा गुजरनी का आशीर्वाद ही अपिब्रतम है। कुछ शब्दों में कृतज्ञता प्रकट कर प्रकृत प्रकट करने का आदेश मुझमें नहीं है। केवल अज्ञेय ही मरी कृतज्ञता है।

श्री रत्नाकर जी के उदार ज्ञेय श्री रामकृष्ण जी को भी मैं अनुप्राणित हूँ। रत्नाकर जी के जीवन से सम्बन्धित विरह बालों का शान इनके शीतल-

बरा ही प्राप्त हो सका। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे सबैव समय तथा सामग्री प्रदान करके सहायता प्रदान की है।

यदि प्रसूत पुस्तक से रत्नाकर जी की बीकनी एवं उनके काम्य पर कुछ भी प्रकाश पड़ सके तो मैं अपने इस प्रयास को उत्तम समझूँगी। प्रसूत पुस्तक में त्रुटियों का होना सम्भव है, धारा है उदार पाठक क्षमा करेंगे।

उषा जायसवाल

७-४-५६

## भूमिका

किन्ती बहुप्रयुक्त विनय वस्तु वा पय से इटाकर किन्ती नूतन विनय, पस्तु वा पय की ओर आकृष्ट करने के लिये उपदेश-जनों का प्रायः कृत्य ही माना है कि उन कृद् वा परम्परा-प्रयुक्त विनय वस्तु किंवा पय के दोषों का यद्वा यद्वाकर वा उनमें कल्पित दोषों की उद्भावना करके उससे लोगों का बिरत करें। हिन्दी-साहित्य के गद्यक्षेत्र में यही योर्त्ता के प्रतिष्ठित हो जाने पर मनी-रियों का ध्यान काव्य की ओर ही गया और उन्होंने गद्य तथा पद्य की भाषा में णरूपता हान के लिये कवियों का आह्वान किया। जिस भाषा में पद्य-कृः भी बरों के अपने शासन-काल में जन-जन पर अधिकार कर लिया था उसके प्रति महत्ता बिरति का रेषा सदृश नहीं था। किन्तु स्कूलों में गिद्या का माध्यम लड़ी बोली ही जाने से ब्रज-भाषा के संसर्ग से नई पंजी उच्चरोत्तर दूर दृष्टी गई, केवल पाठ्य-पुस्तकों में निधारित प्रार्थीन कवियों की कविताएँ पद्य समय ही मजभाषा का साक्षात्कार हो पता था। प्रार्थीनकाल में चला आता हुआ काव्याभ्यास एवं स्वाभ्यास नई पंजी से प्रायः दूर होने लगा था। पंजी स्थिति में व्यवहार-पद्य से दूर रहने वाली भाषा के काव्य का समझना भी सपके लिये सदृश नहीं था। इसी बीच साहित्यिक कलाओं में यही वाली का ही अपनाये का प्रचार भी आरम्भ कर दिया। निराना ठीक स्थान पर लगा पार बहुत से नवशिक्षित नवयुवक भाषाक्षेत्र में ब्रज-भाषा से विप्रोह के म्भेक में पूर्वनिर्मित ब्रज-भाषा-काव्य के भी विप्राही हो गए। किन्तु जिन्होंने मजभाषा की सम-रिता में अपगाहन कर आनन्द प्राप्त कर लिया था, उन्हें यह उपचा विनय रूप से चमरी।

मर्दानता का महत्त्व गतिरमिस्तता का घातक है जरूर, किन्तु जो कुछ प्रार्थीन है उसका मवधा परित्याग भी अपिपिक का परिणाम ही कहा जायगा। क्वि गिरायनि क्वत्तिदाम का यह उद्घोर गानधन मन्थ का उदघातन करता है—

पुण्यमित्यय न नापु मय,  
न येनि फार्थ्य नयमित्ययदम् ।

सन्तः परीक्षाम्यतरत्तुमञ्जसे,

मूढः परप्रत्ययनेयमुद्रिः ॥

ब्रजभाषा सर्वथा उपेक्षणीय है और उसमें रचित हिंदी का प्रचुर साहित्य, जो हमारी एक ईर्ष्याकांक्षी संस्कृति सम्पत्ता और विचार-शक्ति को अपने में समेटे हुए है उसमें कुछ नहीं है वह कदना अविशेष का प्रकाशन है। वास्तव में जो अपने साहित्य का आनुकूलिक गर्भार अभ्ययन नहीं करता वह साहित्यिकमानी मझे ही साहित्यिक नहीं है।

स्वर्गमि बापू जगन्नाथदासजी रत्नाकर वास्तव में 'काम्य-शास्त्राद्यनेककाम्यस्त-' विरुद्ध प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। कवि-प्रतिभा कभी भी उपेक्षणीय नहीं होती, सद्बोध-मनुजत काम्य-नुमुम की उपेक्षा नहीं कर सकते। हाँ, उसका माहृत होना आवश्यक है। कागज नुमुम चाहे कितना ही आधुनिक क्यों न हो मनुजता को वह अपने और आहूत करने में असमर्थ ही सिद्ध होगा। हम देखते हैं कि जिस प्रतिपाद्य विषय को लेकर ब्रज-भाषा की भासना की गई, उसी का इतर प्राचुर हो गया है भावनाएँ शास्त्र की हैं।

प्रस्तुत पुस्तक को प्रस्तुत कर खेदिऊ ने अपने प्रयोगार्थ साहित्य-मेम का परिचय दिया है। उसका यह प्रथम प्रयास रक्षाय है। 'रत्नाकर' की वैवाचिक जीवन-वृत्त का उपस्थित करने के साथ ही उनके काम्यगत वैशिष्ट्य की भी बड़ी संपरता स ज्ञान-जीव की गई है। रत्नाकर जी के काम्य की पृष्ठभूमि और पारंप-भूमि को भी साक्षरानी से प्रस्तुत किया गया है इनके बीच आलाप्य कवि पूर्व काम्य का स्वरूप विराप रूप से मिलत और उभर आया है। खेदिऊ ने बड़ी आत्मीयता और सद्बुद्धता से रत्नाकर-काम्य पर विचार किया है। मुझे विश्वास है कि रत्नाकर जी के काम्य का अभ्ययन करैवालों के लिए इस प्र. ब. से पर्याप्त सहायता मिलेगी और रत्नाकर जी पर लिखी गई पृथ्वती आलोचनाओं से कुछ मात्रो में नूतन सामग्री भी इसमें उपलब्ध होगी।

दीननाथ-श्याम कमन्धुर  
बाराणसी।

}

मालाधर त्रिपाठी 'प्रवासी'  
कार्तिक छात्रा ११, सं० १०१३

## आधुनिक ब्रजकाव्य-परम्परा

हिंदी-साहित्य के इतिहास पर एक विद्वान्मूर्ति का लगे से हाथ होता है कि आरम्भ से ही ब्रजभाषा का विरोध महत्त्व रहा है। विगत एवं दिगत भी ब्रजभाषा के निष्कर्ष की भांगणें हैं। मणिकान्त में कृष्णमणि शाखा के प्रायः सभी कवि तथा राममणि शाखा के कुछ कवियों ने ब्रजभाषा को ही अपनी मातृभक्ति का माध्यम होने का श्रेय दिया। इतिहास में भी पद्य की विरोध भाषा ब्रज ही रही।

आधुनिक काल में गद्य का आधिनांश कहीं कहीं में हुआ। भारतेंदु युग में काव्य का भाग भाग ब्रज ही रही पद्यों कहीं कहीं में पद्य-रचना का आरम्भ हुआ आरम्भ हो चुका था। त्रिबेदी जी के साहित्य-क्षेत्र में पदापरा करते ही कहीं कहीं का ही महत्त्व राज्य हो गया तथा इसने काव्य-क्षेत्र पर भी अधिकार जमा लिया। किंतु फिर भी ब्रजभाषा के आधुनिक एवं साहित्य में अद्य भी पर्याप्त आरक्षण था। मात्र-काव्य-भाषा मंत्र अक्षरप पढ़ गई किंतु एकदम रुक न गई। अद्य तक भी इसको विश्वास मान प्राप्त था तथा ब्रज में काव्य-रचना गीत की बन्नी थी। ब्रजभाषा के अनेक भेदतम प्रथम इसी युग की है। रामानंद जी के उद्भव शतक को सत्यप्रथम स्थान प्राप्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का पुत्र 'चित्त' 'विद्यागी हरि' की 'बीर सतमहं', अयोध्या के रामनाथ-ज्योतिषी का रामचंद्रोद्भव रायकृष्ण श्याम की 'ब्रजब्रज' आधुनिक काल की ही रचनाएँ हैं। कुछ संस्कृत, अंग्रेजी की पुस्तकों के सफल अनुवाद भी हैं। अयोध्या-मिह अयोध्या जी का रामकृत्य उल्लेखनीय है। अद्यतन है कि मात्र-काव्य-परम्परा का भी आधुनिक युग में पर्याप्त मान था।

रामानंद जी के रचना-काल का प्रथम भाग भारतेंदु तथा द्वितीय भाग त्रिबेदी युग में सम्बंधित है। उनका मम-आत्मविक्रम मात्र-कवियों में प्रधान रूप से वं० अयोध्या मिह अयोध्या, श्री रामचरितमणि मिह भी सुन्दर बिहारी मिह, श्री माधवारायण कवि-नाम तथा विद्यागी हरि जी अद्यतन हैं। इसके अतिरिक्त काला मीनाराम, धीपर शतक, राय वैश्यामाह पूरा तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मात्र-रचनाएँ अंग्रेजी एवं महत्त्वपूर्ण हैं।



## रत्नाकर जी का वंश-वृक्ष

सुखाराम

सलबद्ध में आए थे

संगमसाह

क्यटी बड़े गए

पुरुषोत्तमदास

हरिदास

रतुनाथ  
(भरगपुर हुए)

जगन्नाथदास रत्नाकर

सार्धकृष्णदास

गोपीकृष्ण  
कम.पम मी.

रामकृष्णदास  
एम. ए.

नारायणदास

बिनोदकुमार

## अनुक्रमणिका

| सं० | विषय                                    | पृष्ठ   |
|-----|---|---------|
| १   | जीवनी तथा व्यक्तित्व                    | १— ६    |
| २   | युग तथा परम्पराएँ                       | २७—४४   |
| ३   | काव्य-कृतियों                           | ५५—१११  |
|     | ( क ) निबन्ध काव्य                      | ७४      |
|     | ( ख ) प्रबन्ध मुक्तक                    | ७७      |
|     | ( ग ) मुक्तक                            | ८२      |
| ४   | नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रचरित लेख | ८७      |
| ५   | भाषण                                    | १००     |
| ६   | सम्पादित ग्रन्थ                         | १०५     |
| ७   | काव्य रूप, भाषा पर्य कक्षा              | ११३—१५६ |
|     | ( क ) ब्रज-शैली और कक्षा                | १३३     |
|     | ( ख ) भाषा और कक्षा                     | १४७     |
| ८   | विचार-धारा                              | १५७—१६६ |
| ९   | उपसंहार                                 | १६७—१७२ |
| १०  | परिशिष्ट                                | १७३—१७६ |



## ब्रज-काव्य परम्परा

ब्रजभाषा का संबंध प्राचीनतम आर्य भाषाओं से है। आर्य-सभ्यता के विस्तार के साथ ही विभिन्न प्रांतों की बोलियों में अन्तर होने लगा। पञ्चत-  
माया के तीन क्षेत्र तथा तीन प्रकार—(१) शौरसेनी (२) मागधी (३) पेशाबी  
बन गए।

शौरसेनी का विस्तार उत्तर में हिमाचल की तराई, इण्डिया में मध्यप्रदेश  
पूरुब में प्रयाग तथा पश्चिम में दिल्ली तक था। शौरसेनी के पूरुब में मागधी  
का विस्तार था और शौरसेनी के पश्चिम पूरुब पश्चिमोत्तर में पेशाबी का  
विस्तार था। इन प्रांतों की बोलियों में पर्याप्त भेद था अतः प्रत्येक प्रांत में  
एक साधारण जनता की बोली तथा एक साहित्यिक भाषा बन गई। ये  
साहित्यिक भाषाएँ अपने-अपने स्थान के नाम से शौरसेनी-मागधी, मागधी-  
मागधी तथा पेशाबी-मागधी कहलाई। साहित्यिक रचनाओं को सर्वव्यापी बनाने  
के लिये ये महाराष्ट्री मागधी का निमाण हुआ। अधिक विस्तार पूरुब क्षेत्रों के  
क्षेत्र में होने के कारण शौरसेनी की ही प्रधानता रही।

शरी शरी: साहित्यिक भाषा जनसाधारण के लिये कठिन होती गई।  
अतः बोलियों में ही साहित्यिक रचना आरम्भ हो गई। परिशाम-स्वरूप जिस  
प्रकार तीन मागधी भाषाएँ बनी थीं उसी प्रकार तीन बचीत प्रादेशिक भाषाएँ  
बन गईं। ये भाषाएँ व्याकरण से युक्त थीं अतः अपभ्रंश कहलाई। पुनः रच-  
नाएँ सर्वव्यापी हो सकें, इस लिये वे तीनों अपभ्रंश से मिलकर एक  
राष्ट्रीय साहित्यिक अपभ्रंश बनी। इसमें ही शौरसेनी ( वागर् अपभ्रंश ) की  
ही प्रधानता रही।

जब अपभ्रंश ही जनसाधारण से दूर पहुँच गई तब फिर एक-एक प्रादेशिक  
भाषा तथा एक सर्वव्यापी राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा बनी। यह भाषा ६ भाषाओं,  
संस्कृत मागधी, राष्ट्रीय साहित्यिक अपभ्रंश तथा तीनों अपभ्रंश, से मिलकर  
बनी इसलिये पद्मभाषा कहलाई। पद्मभाषा में ही शौरसेनी का ही  
प्रधानत्व रहा।

सोचप्रियता चाहने वाले कवि पद्मारा में ही काव्य-रचना करते थे तथा उनके प्रीतों के अनुसार ( उनकी भाषा में ) विशेषता या जार्ता थी। गुरसेन प्रदेश में अधिक काव्य-रचना हुई। अतः पद्मारा ने साहित्यिक शीरसेनी का रूप धारण कर लिया। आख्यान में मात्र में अधिकतम रचनाएँ हुईं और साहित्यिक शीरसेनी में मात्र के शब्दों एवं रूपों का बाहुल्य हो गया। इस प्रकार पद साहित्यिक भाषा ही मुख्य भाषा बन गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ से ही मजभाषा के साहित्य रूप को ही सर्वदा सचप्रथम स्थान प्राप्त रहा तथा मँडते रहने के कारण इसका रूप निरंतर था।

हिंदी-साहित्य के साहित्यिक में द्विगल एवं विगल भाषा का रचनाएँ मात्र के ही निष्पत्ति थी और इनमें मात्र का ही महत्त्व रहा।

इसकी स्थापना सं० १५८० विजयी से बड़ गढ़ जब भी बल्लभाचार्यजी का देहांत हुआ और गोबिंद न-वर्ष-स्थित श्रीनाथ के मंदिर में भजन एवं संकीर्तन का उत्तरदायित्व सुर के ऊपर पड़ा। १६ वीं शताब्दी हम भाषा का स्वराज्य माना जा सकता है। धार्मिक आशय के साथ ही इसे मुगलकाल में राजाधाय भी प्राप्त हुआ और मजभाषा का काव्यरूप में प्रायः अक्षय्य रूप हो गया। यद्यपि इस समय इसका स्वरूप अल्पव्यक्त था। इस युग में कवियों में भी रचनाएँ होती रहीं किन्तु इसमें तुलसीदास-रामचरित-मानस तथा जायसीदास-बहुमानत से ही कृतिएँ ही प्रचलित हैं।

भक्तिकाल में कृष्ण के उपासक सभी कवियों ने स्वभाषतः मात्र का ही अपनी काव्य-भाषा का श्रेय दिया तथा राम-भक्ति शाला के भी प्रयास कवियों ने मात्र में ही रचनाएँ कीं। शास्त्राचार्य होने के कारण केवल न भाषा को परिभाषित बनाने का प्रयास किया।

राजि-काल में भी प्रायः सभी कवियों ने मात्र को ही अपनाया। विद्वानों ने साहित्यिक मजभाषा के मुख्य गलत रूप का एक ही गिर कर अन्तर्गत जमी के अनुसार शब्दों का प्रयोग किया। किन्तु काव्य-कवि पुरानी परिपाटी के अनुसार ही रचना करते रहे किन्तु उनमें मजभाषा सिद्धि ही रही। विद्वानों के परवान् धार्मिकपन जी ने एक एवं सम्यक् भाषा का प्रयोग किया।

धार्मिक युग में भारतेंदु युग के प्रायः सभी कवियों ने मजभाषा का ही अपनी काव्य-भाषा बनाया। यद्यपि इसी युग से गद्य का साथ पद्य-रचना भी गरी जाती में करने का प्रयास आरम्भ हो चुका था।

आधुनिक युग में 'ब्रज-काव्य-परम्परा' में निम्नलिखित कवि हैं—सेबक, महाराज रघुराज सिंह शीवा नरोरा मरद्वार, बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही', ललित-किष्करी, ललित माधुरी, रामा कश्मल सिंह लखिराम, गोविंद गिस्ताभाई, काछा सीताराम बी ७०, मवनीत बीसे, भाग्येन्दु हरिचन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमबन', डाक्टर जगमोहन सिंह पं० अम्बिका दास प्यार, बाबू रामकृष्ण वर्मा, रामकृष्ण दास, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय श्रीधर पाटक, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसन्न पूवा, राधराज श्याम-बिहारी मिश्र, रायबहादुर सुन्दरेश बिहारी मिश्र पं० सत्यनारायण 'कबिराज' किशोरी हरि, दुसारेकाळ भार्गव रामनाथ ज्योतिषी छाछा भगवानर्जुन, नाथू राम शंकर शमा तथा पं० गवा प्रसाद शुक्ल सनेही आदि ।

इनमें कुछ का क्षेत्र विराय रूप से नहीं बोली में आता है किन्तु इनके ब्रजकाव्य का भी हिंदी साहित्य में कम महत्व नहीं । उपर्युक्त कवियों का कुछ संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दे द्वा उचित होगा यद्यपि ब्रजकाव्य की दृष्टि से बखान ही सर्वभूष मर्तल होते हैं ।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिचौध'

'हरिचौध' जी का जन्म वैशाल कृत्या ३ सं० १९२२ वि० ( सन् १८९५ ई० ) में तमसा नदी के किनारे निजामाबाद में हुआ । इनके पूर्वज बदायूँ के रहने वाले थे किन्तु बाद में आज़मगढ़ के पास निजामाबाद में आकर रहने लगे । इनके पिता का नाम पं० भौसलसिंह जी उपाध्याय था । वे मनास्य शास्त्रज्ञ थे । इनका ब्रज-परम्परागत व्यवसाय पंडितता पूर्व अमींदारी था ।

५ बच की अवस्था में हरिचौध जी के चाचा ब्रह्मसिंह जी ने इनकी विद्या पर पर ही धारण की । ७ बच की अवस्था में वे निजामाबाद की लट्ठसैली पाठशाला में प्रविष्ट हुए । सं० १९३९ वि० ( सन् १८७२ ई० ) में आपन मिथिल परीक्षा पास की । इन्हें पत्रिका भी मिलने लगी । अंगरेजी पढ़ने के लिए वे फिर बनारस प्रीस कालेज में प्रविष्ट हुए परन्तु कुछ ही दिनों बाद अस्वस्थता के कारण इन्हें पढ़ाई का निष्ठाजति हैकर पर सौदना पड़ा । इनके बाद चार-पाँच वर्ष तक घर पर ही उर्दू आरती एवं संस्कृत का अध्ययन करते रहे । सं० १९३३ ( सन् १८८२ ई० ) में आरका विवाद भी हो गया ।

सं० १९३१ वि० ( सन् १८८३ ई० ) में वानूतगोई की परीक्षा पास कर वानूतगो निपुण हुए तथा ३४ बच तक निरंतर काय करते रहे । इस पद में



इनकी शैली पर यदि डालने पर ज्ञात होता है कि इनकी कोई विशिष्ट शैली नहीं है बल्कि प्रकृत की शैलियों पर भारका समान अधिकार है। हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने से संस्कृततापूर्वक किया है जिससे हिन्दी में नवीनता आ गई है। कहीं-कहीं मुहावरों का तो प्रयोग प्रयास रूप में किया है जिससे शैली में स्वाभाविकता तथा चमत्कार की उत्पत्ति हुई है। शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेंिस' का अनुवाद 'वेंिस का बाँका' नाम से संस्कृतमय शैली में है। 'टेक हिन्दी का टैक' की शैली संस्कृतमय शैली के बिलकुल विपरित है। नवीन उक्तियाँ देने में ये पूरा समर्थ हैं। मौखिकता पर इनका विशेष ध्यान रहता है। कवि परिवारों में आई हुई उक्तियाँ इन्हें प्राचीन प्रतीत होती थीं।

शैली के ही समान इनकी भाषा भी विशिष्ट नहीं है बल्कि शैली के अनुसार भाषा बदल जाती है। प्रत्येक प्रकार की भाषा लिखने में यह निरुद्ध हैं। राष्ट्रों का प्रचारक श्रेय इनके पास था तथा वह पूर्ण लक्ष्य शैली पर समान अधिकार प्राप्त था।

रवाकर के उपरान्त आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में आपने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। 'बिचौरी दरि' का स्थान भी इनके उपरान्त ही माना गया है। हिन्दी-साहित्य में आपका गौरवपूर्ण स्थान है तथा आपकी प्रतिदि हिन्दी-साहित्य के साथ ही समर है।

रायराजा रायबहादुर डाक्टर दय्यामणिदारी मिश्र एम० ए०, बी० लिट्०

रायराजा डा० दय्यामणिदारी मिश्र जी का जन्म १२ अगस्त सन् १८७३ ई० में काव्यकुञ्ज माधवा के प्रतिष्ठित ग्राम में हुईआ (मिस्ता जन्मठ) में हुआ था। आपके पूर्वजों में प्रसिद्ध एवं सम्मानित साहित्यिक तथा विद्वान् श्री कितामणि मिश्र एवं श्री साँबसे कृष्ण मिश्र जी आदि हुए।

धर धर माई ये। इनके प्रतिरिक्त श्री शिवबिहारी छाल मिश्र की गणेश बिहारी मिश्र तथा श्री सुन्दरब बिहारी मिश्र थे। श्री शिवबिहारीछाल मिश्र के प्रतिरिक्त काव्य लेखों माई मिस्तकर साहित्य-रचना एवं साहित्य-रचना स्वल्प मुन्दाय करते थे। रायबहादुर सुन्दरब बिहारी मिश्र हिन्दी के विद्वानों में से थे। ये 'मिश्र-बन्धु' नाम से हिन्दी-साहित्य में विख्यात हैं।

• धर की अवस्था में इनके पिता श्री बासदत्त जी मिश्र ने इनकी शिक्षा प्रारम्भ कराई। फिर प्राथमरी स्तर भी जाने लगे तथा धर पर सौंखी मादक से उच्च का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया। इन्होंने दो बरें तक चरन्मिशन



हार्दिकरुद्ध, बरती में भी ठिंका प्राप्त की। फिर अपने बड़े भाई के पास सन् १८८१ ई० में पढ़ने के लिये लखनऊ आ गए। सन् १८८१ ई० में ठुबकी हार्दिकरुद्ध से एन्ट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद कैम्ब्रिज काब्रिज से सन् १८८३ ई० में इन्टरमिडिएट, सन् सन् १८८५ ई० में बी ए० तथा १८८७ ई० में एम० ए प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया तथा प्रिंसिपल द्वारा डिप्टी-कलेक्टर चुने गए।

डिप्टी-कलेक्टर, कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, पुलिस सुपरिन्टेंडेन्ट तथा कई रियासतों के दीवान तथा सेक्रेटरी आदि प्रतिष्ठित पदों पर इन्होंने कार्य किया। सरकारी पदों पर रह प्रायः समस्त भारत का भ्रमण कर आपने जीवन में विभिन्न अनुभव प्राप्त किये तथा सरकार का ध्यान विभिन्न मुद्दों की ओर आकृष्ट किया।

सन् १८९७ ई० से १८९८ ई० तक क्वींसल कॉलेज स्टेट के आनन्दपुर मेम्बर रहे तथा सन् १८९८ ई० में रायबहादुर की पदवी प्राप्त की। अब तक राजराजा पदवी केवल राजपुत्रों को प्राप्त हुई थी किन्तु सन् १८९३ ई० में सराई महाराजा औरंगा ने आपको इस पद से भी भूतोमित किया। सन् १८९७ ई० में इन्की साहित्य-सेवा एवं विज्ञान के कारण प्रयाग विश्वविद्यालय ने पी० डि० की आनंदी उपाधि प्रदान की।

आप अब कक्षाओं के परीक्षक एवं विश्वविद्यालयों की सनैट के मेम्बर भी रहे। इनकी समाज-सेवा भी अत्यंत ही है। स्वप्रतिष्ठर अधिवेशन में अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य सम्मेलन के बाद अभ्युद्य भी रहे। इन्होंने सन् १८९७ ई० में फिर-विज्ञान किया।

स्वाध्याय एवं पारिवारिक साहित्य आनाकरा के कारण ही आप हिन्दी का विद्वान हुए थे। इन्होंने अपने बहबोई की किशोरा कवि से आत्म-नचना की प्रस्ताव मिली थी। प्रथमारा में मिश्रबन्धु द्वारा कर्मों की रचनाएँ हुईं। मिश्र-बन्धु द्वारा अगमग ३९ प्रथम सम्पादित एवं रची हुए हैं। 'मिश्र-बन्धु-विमोह' का हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान है। इसी के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न इतिहास लिखे गए।

रायबहादुर पंडित सुगदेव विहारी मिश्र पी० ए

पं सुगदेव विहारी मिश्र जी का जन्म इंदौर (ब्रिटा लखनऊ) में सन् १८७८ ई० में हुआ था। आरंभ की कक्षा में राजराजा रयाम-विहारी मिश्र जी की जीवन में दिया जा चुका है।

आरंभ की शिक्षा गाँव के स्कूल से आरम्भ हुई। स्कूल में अनु तथा घर पर हिन्दी एवं संस्कृत की शिक्षा प्राप्त हुई। फिर यह भी अपने बड़े भाग के

पत्र पत्रों के लिए सफलता प्राप्त हुई। सन् १८९३ ई० में इन्होंने लुबली हाई स्कूल से मिटिस उच्च-श्रेणी में उत्तीर्ण किया जिसमें इन्हें बर्षाका भी प्रथम होने लगा। हाई-स्कूल तथा ए० ए० में भी आपने प्रथम श्रेणी ही प्राप्त की। सन् १८९६ ई० में कैरिंग काउन्सिल में बी० ए० में सर्व प्रथम आए और इन्हें रॉयल स्कॉल पदक प्राप्त हुआ। सन् १९०१ ई० में आपने बकासत की परीक्षा उत्तीर्ण की, ५ वर्ष तक इन्होंने बकासत भी की, किन्तु यह कार्य इन्हें किराए पर खर्च न हुआ।

श्री रघुनाथदासी मिश्र जी की ही भाँति इन पर भी आपने बहनोई श्री मैरल प्रसाद वाजपेयी विद्यालय कवि का प्रभाव पड़ा। श्री साधुराज एवं प्रसादराज से भी आपने साहित्य-ज्ञान प्राप्त किया था। सन् १९०८ ई० में आपने मुम्बई की। यह पदसे ज्ञान-दान में कट्टर थे किन्तु बाद में यह कट्टरता शिथिल हो गई।

आपने भारत भ्रमण किया तथा काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य का भी ध्यान व्यथा। सन् १९१० ई० में स्वास्थ्य-काय के लिए योरप-भ्रमण (इटली, आस्ट्रिया, जर्मनी, हावैरड हंगरीयड फ्रांस और स्विट्जरलैण्ड) भी किया।

सन् १९१३ ई० में सतलुज में होनेवाले काँग्रेस काँग्रेस के वे अध्यक्ष रहे थे। रायपुरी में अज के पत्र पर तथा लुधियाना में हीमान के पत्र पर आपने कार्य किया। सन् १९२० ई० में आपको रायबहादुर की उपाधि प्राप्त हुई। सन् १९२१ ई० में इन्होंने पेंशन प्राप्त कर ली थी। सफल एवं प्रयाग विश्वविद्यालय के सेनेट के मेंबर भी रह चुके थे। स्वास्थ्य की ओर इनका विशेष ध्यान रहता था। साथ ही राजनैतिक एवं सामाजिक कार्य में भी भाग लेते थे।

'मिश्र-वन्दु' द्वारा सम्पादित एवं लिखित ग्रन्थों का अस्त्रोत्थ श्री रघुनाथदासी मिश्र जी की जीवनी में दो चुका है। इन्होंने अपने भारतके श्री प्रसादराजेश्वर मिश्र जी के साथ कवि-कुल-वंशामरण की टीका एवं साहित्य परिचय का प्रथम खण्ड लिखा था। पटना विश्वविद्यालय में इनके द्वारा 'भारतीय इतिहास का हिन्दी-साहित्य का प्रमाण' विषय पर व्याख्यात्मकता की गई भी पुस्तककार सम्पादित हुई।

आपका देहावसान सन् १९५१ ई० में हुआ। स्वान्त-सुखाय साहित्य रचना होने पर भी इनकी हिन्दी साहित्य-सेवा सर्वोत्तम है।

पं सत्यनारायण 'कविरत्न'

'कविरत्न' जी का जन्म माघ शुद्ध १३ सोमवार सं० १९१९ वि० (सन् १८८० ई०) को सराव बामक ग्राम में हुआ था। इनकी मत्वा लक्ष्मी पुत्र विदुषी स्त्री थीं। घरके वैष्णव जीवन के कारण जीवन-निर्वाह के लिए उन्होंने बाराली कोठवाल आदि स्थानों में अध्यापन का कार्य भी किया। फिर वे हावर्गज में कन्वर्सी को पढ़ाती रहीं। सीमांत से कविरत्न जी की भाषा रघुबरदासजी का आश्रय मिला था। उनके पास सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें थीं। जिनमें प्राचीन हिन्दी काव्य ग्रन्थ भी थे। इनका नाम कविरत्न जी ने उठवाया।

बाल्यावस्था में वे भँवपुर ग्राम की बूत में जाय बालकों के साथ खेलते थे। ग्रामीण जीवन से इनका प्रेम जीवन-पर्यन्त बना रहा। समय-समय पर शहर में उन्हें इस ग्रामीणता एवं ग्रामीण केन्द्रभूषा का परिचय भी भोगना पड़ा था।

सन् १८९० ई० के लगभग उन्होंने जामने में सारस्वत पढ़ना प्रारम्भ किया फिर विधिवत् इनकी शिक्षा भँवपुर में प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम वे तावर्गज के मद्रसे में पढ़ते थे। वहीं उन्हें जंगरेजी पढ़ने का भी अवसर मिला। तावर्गज के कवि कमी लम्बुबिहारी जी से उन्होंने व्याख्यान भी सीखी। प्राणवृत्ति बरीबा उर्तीचं कर के मिनापुर के शम्भुचन्द्र में प्रविष्ट हुए। वहाँ कुम्भलाहरी द्वारा उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा मिली। इतिहास, भूगोल आदि पढ़ करने के दिवस भी वे काव्य रच लेते थे। कमी से यह सम्भवापूर्ति भी करने लगे। इन दिनों इनकी रुचि शृंगार-रस की ओर थी, किन्तु बाराली के डॉक्टर के बाद कुछ दिनों के लिए शृंगार रस की रचनाएँ नहीं कीं। सन् १८९६ ई० में उन्होंने सेकेवर विधीजन में हिन्दी मित्रित उर्तीचं किया। सन् १८९८ ई० लोचर मित्रित उर्तीचं किया तथा दिसम्बर १९०० ई० में सेंट्रॉन्स कांफेरेन्स हाईरिचन्द्र से एन्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण की। १९०८ ई० में एच. ए. में सेकेवर विधीजन में उर्तीचं हुए। सन् १९१० में पी. ए. बरीबा में सम्मिलित हुए पर अनुत्तीर्ण हुए। १९०३ १० ई० में कानून भी पढ़ा था।

तावर्गज कांफेरेन्स तथा हावर्गज में प्रथम सम्भनारायणजी के उद्घाटन पढ़ता रहा। सन् १९०४ ई० में कांफेरेन्स तथा १९०५ ई० से उनके काव्य में देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता का आधिपत्य कल्पित होता है। सन् १९०० ई० में उन्होंने 'दयानन्द-नर-मदन' पुस्तक भी लिखी थी।

स्वामी रामलील के ध्यात्मियों से वे विशेष रूप से प्रभावित हुए थे तथा वे उन्हें अमेरिका के जाना चाह रहे थे किन्तु वे बाबा रघुबरदासजी को छोड़कर न जा सके। सन् १९१९ ई० में बाबाजी की मृत्यु ने उन्हें खीर दुखी बना दिया।

बाबुमुकुंद गुप्त जी ने इनकी प्रतिभा पहचानी थी। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी से सन् १९०३ ई० में आपका परिचय हुआ। धीरे-धीरे पाठक के काम्य के वे प्रेमी थे। १९०५ ई० में इनके द्वारा लिखा प्रोद्यो 'स्वदेश बांधव' पत्रिका के ऊपर चपला रहा, बाद में वे इस पत्र के पद्य-विभाग में सम्पादक हो गए। अशुर्वेदी हारकामसाद शर्माजी द्वारा प्रकाशित 'राजवेद' पत्रिका में इनकी कविताएँ प्रायः चपटी थीं।

सेंट-जॉस कॉलेज में जब कोई उत्सव अथवा सम्पादक की बिदाई होती थी तो अधिबन्धन-पत्र आदि लिखना आपका ही कार्य होता था। संवेपता विद्यार्थी जीवन से ही इनकी काम्य-प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास हुआ। एच. ए. की परीक्षा के दिन वे बर्गो-अनु के प्रकृति-स्तीम्वर्य पर मुग्ध हो काम्य-रचना में रत थे। वे प्रायः कितानों के कोने पर ही पद्य-रचना कर अपने विचार प्रकट करते जाते थे। रवाकर जी के 'समासाचनादर्श' काम्य पर भी पद्य-रचना की थी। सन् १९१९ से १९२७ ई० में वे रवास की बीमारी से पर्येशित रह किन्तु एक बूढ़ की साधारण दबा से उन्हें चाराम हो गया।

हिंदी-सर्वाहित्य-सम्मेलन के तृतीय, पंचम तथा अष्टम अधिवेशन में वे सम्मिलित हुए थे और अपने कविता-पाठ से जनता को मुग्ध किया था। आगरा मार्गत्व-सम्मेलन की स्वागत-कारिणी-समिति के बह समापति भी रहे।

शिक्षित स्वास्थ्य के कारण अल्पिक द्विवेदी के बाद विवाह करना स्वान्तर किया तथा ७ फरवरी १९१९ ई० को, आलापुर (हरिद्वार) जिन्हा महारणपुर के मुकुन्दराम जी की कन्या सावित्री देवी के साथ इनका विवाह सत्य हुआ। इनका पारिवारिक-जीवन अल्पिक दुःखपूर्ण रहा। विवाह के दो मास बाद ही पत्नी जी अपनी सहेली के यहाँ चली गई थीं। इनकी मृत्यु के कुछ एक दिन पहले यह आलापुर से आई थीं।

८ ठलाई १९१९ के मार्गत्व-पत्र पर १ अगस्त सन् १९१९ ई० को वे आगरा आश्रम-रक्षक में महापद-अध्यापक नियुक्त हुए।

१९ अगस्त १९१८ ई० को एक दिन की अल्पिकता में ही इनकी अन्तम मृत्यु हो गई। अंगरेजी के पर्यस अल्पिक करने पर भी इनका जीवन अल्पिक



वे ब्रज में रहते थे तथा छेत्र-ब्रजभाषा पर इनका अधिकार था। अतः इनकी भाषा में बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग है। शब्द-चयन करने में वे सुगुण थे। इनके काव्य में अलंकार स्वाभाविक रूप में आए हैं तथा इनमें काव्योचित कल्पनाशीलता एवं प्रकृति प्रेम था। वे रत्नाकर जी के समकालीन कवियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

पं० इतिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि'

वियोगी-हरि जी का जन्म कान्यकुब्ज प्रायश्चित्त में सं० १९५३ वि० (सन् १८९९ ई०) की ब्रजपुर राज्य में हुआ। आपके पिता का नाम श्री बलदेव प्रसाद द्विवेदी था। जन्म के ६ मास बाद ही इनके पिता का देहान्त हो गया। अतः इनका पालन-पोषण इनके नाना श्री अश्वेस्ताक निबारी जी के द्वारा हुआ।

८ वर्ष की आयु में इनकी हिन्दी एवं संस्कृत की शिक्षा घर पर ही आरम्भ हुई। गारुडानी तुलसीदास की विनय-पत्रिका एवं भीमप्रसागत से उन्हें विशेष प्रेम था। अंगरेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे ब्रजपुर के हाईस्कूल में प्रविष्ट हुए तथा सन् १९१५ ई० में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की।

। बाल्यावस्था से ही वे गम्भीर प्रकृति के थे। बाल-मुहम स्वसत्ता इनमें न थी। बीछाहक से बुरे प्रकार से स्थापित हुए पिय था। कदाचित् हमी गम्भीर स्वभाव के कारण ही आरंभ की शिक्षा अस्वाभाविक रूप से विरत हुई। श्री गुलाबराय पं० ए० तथा बालू भोलादास जी० ए० जी इनके साथ ही दर्शन का अध्ययन किया करते थे। आरम्भ में वे अज्ञेयवादी थे, किन्तु ब्रजपुर की अज्ञेयवादी श्रीमती कमला कुमारी देवी के सम्पर्क में आकर ज्ञेयवादी बन गए। महाराजी का आरम्भ से ही इनके प्रति पुत्रवत् प्रेम था। इनके साथ में कई बार तीर्थ-यात्रा पर गए। पहले इन्होंने उत्तर भारत का तीर्थयात्रा किया। अथवा में इन्होंने का बुधराजमहाराय टंक जी ने अपने पास राक लिया। किन्तु पुनः महाराजी द्वारा आमंत्रित होने पर यह उनके साथ तीर्थ-यात्रा पर गए और अंत में महाराजी के साथ ही दक्षिण के तीर्थ-यात्रा में श्री अज्ञेयवादी बन गए। अंत में अज्ञेय पर महाराजी का देहावसान हो गया जिससे इन्होंने बहुत दुःख हुआ और इन्होंने अपना नाम ही 'वियोगी हरि' रख लिया। महाराजी के चारोपानुसार ही इन्होंने प्रयाग में वियोगी-हरि पर सन्धान प्रहण कर लिया।

इनके संग्राम का नाम हरितीर्थ है। विवाह करने से इन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया था। आर्य्यम अधिकारहित रहने का मत से लिया।

१८ वर्ष की आयु में ही इन्होंने प्रेमधर्म पर तीन पुस्तकें लिखी थीं। प्रथम में श्री टंकल जी ने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन पत्रिका के प्रकाशन का भार आसने दिया। चार वर्ष तक यह इस पत्रिका का सम्पादन करते रहे और इसी समय संविध सूरसागर का भी सम्पादन किया। बंगला के टुकड़े के ढंग पर इन्होंने भी टुकड़े लच्छकर्म्य लिखा है। 'उरगिणी नामक एक सुन्दर गद्यकाव्य की रचना भी उसी समय की।

देशप्रेम एवं शहीदता की भावना इनमें बहुत गहरी थी। अतः राष्ट्रीय पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। 'वीरसतसई' मद्रास में बीरस का एक सुन्दर ग्रन्थ है। इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ किन्तु उपरताका यह सब इन्होंने सम्मेलन को समर्पित कर दिया।

सन् १९३२ ई० के नवम्बर में आर हरिजन सेवक-संघ में सम्मिलित हुए तथा सन् १९३७ ई० में गांधी-सेवा-संघ के सदस्य भी बने। 'हरिजन-सेवक' पत्रिका के ये सम्पादक नियुक्त हुए तथा सन् १९३८ ई० से यह हरिजन-सेवा में ही चलता है। दिल्ली की हरिजन बस्ती के ये व्यवस्थापक हैं।

३०-३५ वर्ष से यह पत्र ही पान्न रहते हैं। सन् १९३४ ई० से आर ने साहित्य-क्षेत्र से अपने को अलग कर लिया है। आरके द्वारा लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थ प्रायः ४० के ऊपर हैं। मद्रासा का इनका प्रसिद्ध काव्य 'वीर-सतसई' है।

'विप्लोगी-हरि' जी मद्र में ही काव्य-रचना करते रहे, कड़ी बोली का बहुत-मिथित रूप भी इन्हें अधिक है। संस्कृत एवं बंगला का भी इनकी शान है। इन्होंने वीर-रस का विस्तृत वर्णन किया है, केवल वीरता तथा श्रेय से ही वीर रस का संबंध नहीं माना है। वीर रस के काव्य की सफलता यह है कि वह पाठक के हृदय में लम्बाई का संचार करे। 'वीरसतसई' इस दृष्टि से पूर्णरूपेण सफल रचना है। अतएव इन्होंने एक स्वयं के अतिरिक्त, कहीं पर भी अरमस की शिब-वर्णनाली शैली को नहीं अपनाया है। वीर-रस के अतिरिक्त मन्त्रि, प्रेम एवं विरह विरचक रचनाएँ अच्छी हुई हैं। प्राचीन शैली के दार्शनिक-उद्गात के समान ही इनकी भी मन्त्रि-विरचक रचनाएँ हैं।

इनकी भाषा अतएव रसायन जी की तरह शुद्ध एवं परिमार्जित नहीं है। अतएव भाषा में मातृवंश एवं प्रवाद है। भाषा का रसुद्ध प्रयोग है। उसके किसी विनिर्दिष्ट रूप को आर्य्यम से अंत तक निमाने का प्रभाव नहीं है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के लक्ष्मी बाली क्षेत्र में जाने के बाद प्राच्यनिक मन्त्र-काम्य-परम्परा में रत्नाकर जी के बाद श्री 'विद्योर्गाहरि' जी का ही नाम विशेष लिया जाता है।

प्राच्यनिक मन्त्र-काम्य परम्परा में 'रत्नाकर' के समकालीन कवियों में इन कवियों की रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं—

लाला सीताराम श्री० ए० (सम १८५८-१९३६ ई०)

छात्रात्री मन्त्र तथा मादिपानुरागी सख्य भ। इन्होंने संस्कृत के कालि राम वृठ रजुबंध, कुमारसम्मय तथा मेघदूत के पद्यानुवाद तथा अग्नेयी के शशसपिपर के कुछ पाठकों का मायानुवाद किया है। ये अनुवाद सफ़्त एवं छंद रूप हैं तथा संस्कृत के मायसपिपर का परिचय देते हैं।

भोवर पाठक (सम १८५६-१९२८ ई०)

यह लक्ष्मी बाली में सक्षप्रथम ब्रह्म तथा विष्णुत परिमाण में रचना करने वालों में हैं, किंतु ये मन्त्रभाग के भी प्रथमी भ। इन्होंने संस्कृत के ऋगु-संहार तथा श्रीमद्गी के गार्हपत्यिध द्वारा रचित डिग्गैड विज्ञेय का 'अत्रय प्राम' नाम से पद्यानुवाद किया है। इनकी भाषा मन्त्र के पिछले काल की मन्त्रभाषा है अन्वया भाषा परिमर्जित एवं प्रबाहुक है। इन्होंने अक्षरान्तों का प्रयोग अधिक नहीं किया है।

इनमें रुचिबद्धिता न थी। इनके विषय मनुष्य के कार्य-कसरों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि महति के स्वच्छन्द बालाचार्य में भी विचारण करते हैं। समाज-मुषार, ईश-मेम मानुमाया-मेम आदि भाव इनके काव्य में हैं।

रायदेवीप्रसाद पूर्ण (सम १८६८-१९१४ ई०)

कानपुर के 'रमिक-ममात्र' की राय देवीप्रसाद पूरा जी ने पर्याप्त सेवा की। इन्हीं के सन्ध्याय स कानपुर कुछ दिनों तक काव्य-वर्षा का क्षेत्र बना रहा।

इन्होंने भी कालिदास के मेघदूत का 'धारा-पर पावन' नाम से प्रवाद पूरा अनुवाद किया है। इनके पहले राजा लक्ष्मणसिंह एवं डाकुर जगमाहन सिंह जी के अनुवाद ही कुछे थे किंतु उनमें इनकी सरलता एवं प्रवाद नहीं है। धारने बंदरुक्ता-आनुकुमार नामक नाटक में मन्त्रभाषा के सुंदर पद्यों की रचना की है।

इनके विषय प्रकृति अनु-वर्णन ग गार भक्ति रूपै देवार्पण से सम्बन्धित हैं। शैली तथा भाषा शैली पर ही इनका अधिष्ठा है। इन्हीं में इनकी रचनाओं में सरमता धा गई है। इनकी भाषा संपन्न है। उपमा एवं उल्लेख



अर्थात् अक्षरों में वह अपनी ही कल्पना एवं विचारों से काव्य में आए हैं, वे पाठकों से आए नहीं हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सम् १८८४-१९४० ई०)

व्यापि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का क्षेत्र नहीं बोलता है तथा वे आलोचक के रूप में महत्त्व हैं, तथापि उन्होंने आरम्भ में कविभाव में भी सुंदर रचनाएँ की थीं।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक के 'साइड-आउट-प्रिन्सिपल' के आधार पर उन्होंने 'सुन्दर चरित' लिखा। यह हिन्दी का एक अनुपम ग्रंथ है। इसकी अपनी ही भावुकता एवं भाव ता सुन्दर चरित में परिलक्षित होती है। महत्त्व का सुन्दर एवं स्वच्छ रूप आपने हमारे समक्ष उपस्थित किया है। हृदयमत्त न होने के कारण इसमें अक्षरों की कम आण है। इसकी भाषा सुन्दर, परिभाषित एवं प्रकाश-युक्त है।

---

## जीवनी तथा व्यक्तित्व

1

दिग्ग्री रीति परम्परा के अश्विमत महाकवि जगन्नाथदास रत्नाकर धी० ए० के एवम पंजाब कृ पातापत सिद्धे में सफाई ( मूक नाम सर्वदमन ) नामक ग्राम के निवासी थे और उनका जन्म दिल्लीवाले अमरवाले बैरवों के एक परिवार में हुआ था ।

यहाँ से यह परिवार दिल्ली आ गया और मुगल दरबार में प्रतिष्ठित पदों पर काम करने लगा। अकबरान्तर में मुगल बंध का अंत-पतन हो गया तथा केन्द्रीय सत्ता कुम्भ होने लगी । प्रान्तीय सरकार प्रबल होने लगी और अफगन, पटना मुर्शिदाबाद का वैभव व्यक्तियों, राजकारों और साहित्यकारों को अपनी ओर आकर्षित करने लगा । आचार्य रामचन्द्र जी उल्ल के शब्दों में—

दिल्ली आगरे आदि पचाही शहरों की समृद्धि यह हो चली थी और अफगन पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियों अमक उठी थी । जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली छाड़ कर मीर हुसैन आदि अनेक ठकू शापर पूर्व की ओर आने लग उसी प्रकार दिल्ली के आस पास के प्रदेशों की दिग्ग्री व्यक्तियों ( अगारवाले, मथी आदि ) अहिंसा के सिद्ध लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूर्वी जिलों तथा शहरों में फैलने लगी ।'

इन्हीं व्यापारिक जातियों में रघुनाथ जी के पूज्य भी थे जो अफगन आकर बग गए । अफगन में इनके पर दादा सेठ तुलाराम 'अनुस सन्पत्तिवाली राजमाय्य हुए ।' साक्षा तुलाराम जहाँदार शाह के दरबार में काम करते थे और अफगन के बहुत बड़े रईम माने जाते थे । यह महाजनी का व्यवसाय भी करते थे तथा महाजनों के पीपरी भी थे । बाबू जी ने लिखा है 'एक बार अफगन के एक नबाब साहब ने तुलाराम जी से मति करीब रुपये उधार माँगे थे । हम चाजा का पालन करने में और अपना हुटने में इनकी सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा अंश चला गया ।' यद्यपि हम बटना के कारण इनकी सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा अंश चला गया, किन्तु उनके रदन-महम में अन्तर नहीं आया । एक बार तुलारामजी जहाँदार शाह के साथ काशी आए । अन्तर्गत उनका मन यहाँ रम गया अन्त-ने यहीं रहने लगे ।

तुकाराम जी के पुत्र संगमसाह जी हुए। संगमसाह जी ने पिता की सम्पत्ति का सम्भर्षण किया। हरिश्चन्द्र घाट के पार्श्व में बुबकी घाट तथा बुब मंदिर भी बनवाये। इसी के निकट शिवालाघाट मुद्रस्ता के निकट से निशाम करने लगे। संगमसाह जी के दो पुत्र पुरोत्तमदास जी तथा हरिदास जी हुए। हरिदास जी अत्यायु हुए अतः उनके बंध में कोई नहीं है।

पुरोत्तमदास जी चारसी के मर्मज्ञ थे। उस समय देश में चारसी का ही प्रचार अधिक था। चारसी के पंडित होने पर भी श्री पुरोत्तमदास जी हिन्दी-काव्य में अतुरक्ति रखते थे। इन्हें कुान पूरा बाबू था तथा हकीमी का भी अज्ञा ज्ञान था। साहित्य प्रेमी एवं सत्यवादी होने के कारण इन्होंने अपने यहाँ एक कमरा कवियों के लिए अलग रूप ढाँचा था, यहाँ हिन्दी-सुमनमान नामों कवियों के लिए सामान रहता था। इनके यत्नानुसार दुःखदाता कवियों को धारणपञ्चानुसार सामग्री दे दिया करते थे। यत्न आर्ष भी भी पूरा व्यवस्था इनके यहाँ रहती थी।

पुरोत्तमदास जी भारतीय वाबू हरिश्चन्द्र जी के सम्बन्धीन थे। यद्यपि भारतीय वाबू हरिश्चन्द्र एवं इनकी आयु में विरह्य अंतर था तथापि इनमें अनिष्ट मित्रता थी। बिनोदप्रियता के कारण भारतीय वाबू प्रायः इटली में इनके यहाँ का आते थे। एक दिन प्राण-असु के मिष्टक के रूप में बाहर एक पैसा मँगल लगे। पैसे इन्हें प्राप्त भी हो रहे थे किन्तु पैसे ही के पटखान सिद्ध गये और लोगों का बड़ा ममोरंजन हुआ। आज भी वह बरखा एक कँगू हक का विषय बनी हुई है। भारतीय वाबू उस समय हिन्दी का प्रेरणक बन रहे थे भारतीय मंडल समुद्रियाली सभ्यों तथा साहित्यकारों को हिन्दी की ओर आकर्षित कर रहा था। यत्नतः पुरोत्तमदास जी भी इस प्रभाव से बचे नहीं थे। उनका घर भी तत्कालीन बहिगादियों तथा साहित्यकारों की प्रतिबिम्बिता बना हुआ था।

पुरोत्तमदास जी को अपने अवस्य मित्र भारतीय जी की १९ वीं बर्गाह के दिन मई १९१३ ( मई १८९९ ) के भाद्रपद दशक पंचमी को पुनः-रक्त प्राप्त हुआ। यह अतिपंचमी मत प्रैतियों तथा पदार्थियों का विरह्य स्वरुह होता है। इस दिन गिरवाँ दिन मत मत पूजन करता है। इसी दिन गिरुह रसाकर का जन्म हुआ। वह बाबक कविप में कविरा राजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

साहित्यमित्रिणी तथा प्रतिभा तो इन्हें पैगूक सम्पत्ति के रूप में मिली थी, साथ ही इन्हें बौद्धित बातावरण भी प्राप्त हुआ। श्री पुस्तोचमदास की अक्षय्य अपने यहाँ साहित्यिक गोष्ठियों करवाया करते थे। पारंपरिक स ही यह शुभ बातावरण इनकी प्रतिभा को विकसित करने में सहायक सिद्ध हुआ।

श्री जगन्नाथदास रमास्त्र की वात्स्यायनी कारी में ही रीती। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर पारसी स प्रारम्भ हुई। १२ बय बाद इन्होंने अंगरेजी पढ़ना आरम्भ किया और अंगरेजी टीका दार्ष्टिक्य में प्रविष्ट हुए। प्रारम्भिक कक्षाओं में इन्होंने कई बार एक बय में दो कक्षाएँ पास कीं। कक्षा के प्रथम विद्यार्थी को ही यह सुविधा प्राप्त होती है। अतः स्पष्ट है कि रमास्त्र की प्रतिभा-शाली पात्र थे। इन्हें प्रारम्भिक कक्षाओं में जो पुस्तकें चाँद पुरस्कार-स्वरूप प्राप्त हुई थीं व अक्षय्य की इनके पात्र भी रामकृष्ण के पाम सुरक्षित हैं। १८ बय की अवस्था में इन्होंने एन्ट्रेंस की परीक्षा पाम की। तत्पश्चात् इन्होंने प्रीम कालेज में प्रवेश किया और २२ बय की अवस्था में द्वितीय श्रेणी में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पाम की। इनके पी० ए० के दो विषय तो अंगरेजी और फारसी थे, तृतीय विषय सम्भवतः गणित अथवा इतिहास था। सम्भवतः १९४५ (सन् १८८८) में पी० ए० की परीक्षा पाम कर लेना बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। फिर प्रायः कर्मर पर के दसके सम्भावतः विद्यापीठ प्रगति के होते थे, अतः इनका इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेना और भी सुस्पष्ट मर्तव्य होता है। ये कर्मी अनुसंधान व हुए थे और प्रारम्भ स ही इनकी रचि साहित्य की ओर रही। इन्होंने चारमी में एम ए० की तैयारी का किन्तु पारिवारिक परिस्थितिवश परीक्षा में सम्मिलित न हो सके। एम० ए० की परीक्षा भी इसी कारणवश न हो सके।

इनका विवाह पटना के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। अतः अक्षय्य शूद्रकी का भी भार उठाना पड़ रहा था। फिर भी साहित्यमित्रिणी होने के कारण रमास्त्र सुभाव व अग्रयण करते ही रहते थे। १९०० ई० के पहलू के 'फर्डी' उपनाम से पारसी में भाष्य-रचना करत था। इन्होंने लगभग १ गजटें लिखी थी जिन्हें बाद में चाँद बाबा। इनके इस विषय के भाष्य-गुण मिर्जा मुहम्मद हमन 'त्राव्य' थे। इनके प्रति रमास्त्र जी के मन में उत्तर धरा थी जो एम ए० की माता में विद्यमान रही, इस गुण में गुणमन्त्रि के एम उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं। पारसी गुणमन्त्रि इन्होंने इस प्रकार दस्य की है—

केज पत्राङ्क के तलममुद्र का हुआ जप से "जकी"

-----मानी सुखन में खल्वागर रहने लगा ।

केज = हुम फल । तलममुद्र = शक्ति ।

जिमी के आग्रह पर इन्होंने एक गजब सिर्का भी पर अज्ञात विना गुद की विद्या न दे पाए थे । गुद जी का घर रसाकर जी के घर से थोड़ी ही दूर पर था । रसाकर जी ने मिलने के लिए समय चुनवाया इस पर वे स्वयं रसाकर जी के पास आ गए जिससे रसाकर जी की प्कानि हुई थीर इन्होंने उनसे जमा-वाचना की । एक कारण थीर भी था कि गुद पर्याप्त बुद्धि थीर उन्हे धार में कर हुआ था । रसाकर जी की गजब में उन्हीसे सुधार कर दिए ।

सरदार कवि का इनका काव्य-गुरु कहा जाता है इन्होंने स्वयं सिखा है—

सरदार कवि का हमने स्वयं अपनी वास्पाकस्था में देखा था ।

'क्यती क भईमी गुदक में हमारे घर से बाड़ी दूर पर वे रहते थे और हमारे पूज्य पिता जी के पास प्राय आया करते थे । हम कभी-कभी उनसे कुछ पढ़ भी लेते थे ।'<sup>१</sup>

उनके अतिरिक्त इन्होंने रूपक इमुमान आदि कवियों के सत्संग से प्रभावा तथा प्रभावा काव्य का अध्ययन आरम्भ किया । भारतेन्दु के घर पर ही भी नवनीत साठ अनुदेशी से इनका परिचय हुआ तथा उनके व्यक्तित्व का इन पर अधिक प्रभाव पड़ा । वा० रघामसुन्दर दास जी तथा भी कृष्णचर शुक्ल जी ने इन्हीं को रसाकर जी का काव्य-गुरु माना है ।<sup>२</sup> भी अनुप जी ने भी लिखा है कि नवनीत जी रसाकर जी को अपना शिष्य मानते थे, किन्तु स्वयं रसाकर जी ने मुजान-वागर की भूमिका में नवनीत जी को अपना मित्र लिखा है । गुद को मित्र करने की पुस्तक कम से कम रसाकर जो न कर सकते थे ।<sup>३</sup>

नवनीत जी मधुरा निवासी थे अतः उनसे पढ़ने का अवसर रसाकर जी को सम्भवतः प्राप्त न हुआ होगा । जब आयागढ़ विद्यालय में वे कीर्त्तव्य बंधु पर आसीन थे तब प्रायः वे मधुरा जाते थे और वहाँ पर भी नवनीत जी के साथ

१ कविचर विहारी : भी जगन्नाथ दास 'रसाकर' पृ० ९०३ ।

२ वा० दि साहित्य का इतिहास कृष्णचर शुक्ल, पृ ३३ ।

३. मुजान वागर भूमिका । कुछ दिन हुए कि मुझे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा में यह पता लगा कि मेरे एक मित्र काव्य बना प० भी नवनीत कीसे मधुरा निवासी उतको पचाये हुए बैठे हैं ।

बमुला-तर बैठकर काव्य रचने किया करते थे। वहाँ पर सैयी जी ( जो यद्यपि कविता न करते थे पर साहित्यानुयायी थे ) के मांसग से रखाकर जी ने मंत्र की बालबाल की भाषा का गुण प्राप्त किया। इसी के फलस्वरूप रखाकर जी की भाषा में बाल बाल की दम-भाषा का पुत्र था गया है।

काव्येन्द्र प्रोद्भवे के उपरान्त लगभग ३०-३२ वर्ष की अवस्था में रखाकर जी ने अपनी आजीविका के लिये सपथघन सरदाजी का काव्य आरम्भ किया। उनकी सतकता का उदाहरण हम यत्रा से कर सकते हैं। एक बार एक वर्तिका सरदाजी के घरम का एक कोट खेकर कलकत्ते भाग गया और रखाकर जी उसका पता लगाते हुए कलकत्ते तक पहुँच गए, जहाँ आर्य मित्र भी तुगासराद जी की सहायता से उस कोट को प्राप्त किया।<sup>१</sup>

लगभग ३३-३४वर्ष की अवस्था में वे आबागढ़ रियासत में कोराप्यड के पद पर नियुक्त हुये। पर वहाँ की अकबापु इनके अनुकूल सिद्ध न हुई, अतः वे ही बन बाद वहाँ से पुनः पद काठी था गये।

हिन्दी-साहित्य की ओर इनकी अभिरुचि भारतेन्दु जी के यहाँ की गोटियों से प्रारम्भित हुई थी। इन कवि-यादियों में समस्था-पूर्ति हुआ करती थी। अतः इनका भी हिन्दी-साहित्य में प्रवेश समस्था-पूर्ति के साथ ही हुआ और इनका उपनाम 'रखाकर' प्रकाश में आने लगा। साथ ही इनके पिता भीपूरुपोत्तम राम जी की काव्य-रुचि के कारण इनके घर पर भी हिन्दी एवं फारसी दोनों भाषाओं के कवियों का ठोंठा लगा रहता था। वास्तविकता से ही वे कवि-सम्मेलनों में जाते थे और वहाँ पर प्यान में फकितापें मुखा करते थे। इनकी हम उदात्तभक्ति एवं प्रकाशता पर प्यान देकर भारतेन्दु जी ने कहा था कि यह बालक भक्ति में महात् कवि होगा। भारतेन्दु जी की इस भविष्यवाणी की महत्ता हमें आज तक जाननी है। भारतेन्दु जी ने इन्हें प्रोत्साहित भी किया करते थे। उस प्रोत्साहन का इनके बाल्य मन पर शुभ एवं अनारिजामिक प्रभाव पड़ा। अतः वास्तविकता से ही एक महात् कवि बनने की एक आशा इनके हृदय में उत्पन्न हो चुकी थी। हमी भाग पर ये एक-दूसरे के साथ प्रेमपूर्वक होने लगे यद्यपि परिस्थितियों ने इनकी काव्य-रचना की गति में बाधा पहुँचाई वा प्रथम पाठे ही वह पुनः प्रकाशित होनी रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनकी ब्रजभाषा काव्य-रचना १८८६ में आरम्भ हुई।<sup>१</sup> पर बीच-बीच

१ बनारसी दास बनुरेदी रंगान-चित्र पृ० ११५।

२ दि० धा० का० इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

में प्रायः न सना भग होती रही। आजाग रियामत के ओपाय्य-पद हीवन के उपरान्त इनकी मङ्ग-काम्य की रचना कुछ दिनों तक अबाध गति में चली। इनकी प्रथम काव्यकृति दिवोका सन् १९५१ (सन् १८९४ ई०) में प्रकाशित हुई।

सन् १८९३ ई० में इन्होंने साहित्य-सुधानिधि' मासिक पत्रिका भी निकाली जिसका सन्पादन वे स्वयं पृथक् बापू देवकीनन्दन लक्ष्मी करते थे। इन्हीं-दृष्ट तथा सुजान-नागर का प्रकाशन इन्हीं के द्वारा हुआ। सन् १८९४ ई० में रत्नाकर जी न मद्रस्यापूर्ति-संग्रह का प्रथम भाग प्रकाशित किया। साथ ही मार्चम पत्रियों की कृतिवर्षा सक्तावारण को सुगम बनान के लिये वे मार्चम पत्रियों का काव्यपत्र करके उसके प्रथम सन्पादित करते रहे। १८९३ ई० में मूलक-कृत कवि-कुसुम-कामारण तथा मृग शंभु-कृत मप्रतिष्ठा और १८९४ ई० में कृपासाम-कृत दिततरंगिणी तथा चन्द्रोपर-कृत इन्हीं-दृष्ट का इन्हींमें प्रकाशन कराया।

१९ जुलाई १८९३ ई० में निम्न भाग उद्धति' के लिये नागरी-मचारिणी-सभा की स्थापना हुई थी। मृगरे वर्ष १० अरवरी को भारतैन्दु के कुपेरे भाई तथा प्रसिद्ध खेयक बापू श्यामकृष्णदास ने सभा का प्रधान पद स्वर्णधार किया और आमरण उम्मी लेवा करते रहे। इन्हीं वर्ष रायपदापुर पंडित लक्ष्मीनन्दन मिश्र मम पृ० बापू इन्द्रनारायण मिह्र मम पृ० बापू रामकृष्ण वर्मा पं० क्रिशातीलाल गोस्वामी बापू कर्तिक प्रसाद लक्ष्मी बापू देवकीनन्दन लक्ष्मी बापू गदाधर मिह्र प्रभृति हिन्दी के प्रतिष्ठित खेयक सभा में सम्मिलित हुए और रत्नाकर जी भी उन्हीं वर्ष उन्हींमें सम्मिलित हुए। नागरी-मचारिणी-सभा की सर्व बाङ्गनाथों में रत्नाकर जी का पूरा सहयोग रहता था।

३। कामता प्रसाद गुप्त न एक व्याकरण रचाया था जिस पर विचार करन के लिये सभा में एक उप-समिति बनाई गयी थी। उसमें अन्य प्रतिष्ठित विद्वानों में पं० महाशयप्रसाद द्विवेदी बापू श्याममुन्दर दास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पं० चन्द्रधर शर्मा शुक्ली के साथ ही आदरपूर्वक थी रत्नाकर जी का भी नाम था। संशोधन के उपरान्त पद व्याकरण प्रकाशित हुआ। सन् १८९९ ई० में नागरी-मचारिणी-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। खेयों के सुनाच के लिये एक शरीरक-समिति बनाई गई जिसके सदस्य थे राय बदापुर लक्ष्मी-नन्दन मिश्र बापू श्यामकृष्ण दास बापू कर्तिकप्रसाद लक्ष्मी बापू देवकीनन्दन लक्ष्मी तथा उगडापदम रत्नाकर। नागरी-मचारिणी पत्रिका में जब तक रत्नाकर जी के लेख प्रकाशित हुआ करते थे। १९ ई० में जब सभा के लक्ष्याधान

में सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तब रत्नाकर जी का नाम भी सम्पादकों में था।

१९०२ ई० तक रत्नाकर जी का अध्ययन व्यापक हो चुका था और उनके अध्यय में गीतिका का सुझाव भी। प्राचीन हिन्दी-काव्य के साथ ही साथ रत्नाकर जी मन्सूत-साहित्य एवं संस्कृत काव्य-शास्त्र का भी अध्ययन करते रहे। प्रायः एक अथवा दो काव्य का भी अध्ययन उन्होंने किया। १८९७ ई० में 'साहित्य सुधारनिधि' पत्र में साहित्य-रत्नाकर (काव्य निरूपण खण्ड १) प्रकाशित हुआ। इसमें संस्कृत-काव्यों के मर्मों की संक्षिप्त समीक्षा की गई थी। क्रम में काव्य की परिभाषा भी दी गई थी। उससे रत्नाकर जी के काव्य-शास्त्र-मनवन्धी ज्ञान का पता चलता है। १८९७ ई० में 'बनारसी नियम-रत्नाकर' प्रकाशित हुआ। इसकी रचना भी १०८ वाक्यरूप की महाराज कांकराजी द्वारा स्थापित काशी-कवि-समाज तथा सवसाधारण के हितार्थ की गई थी। उससे स्पष्ट है कि रत्नाकर जी ने विंगत शास्त्र का अध्ययन पचास मात्रा में किया था। बनारसी पर इनका पूरा अधिकार भी था। उन्होंने जो नियम निर्धारित किये हैं वे अप्रथमिक समीचीन हैं। संस्कृत दिग्दी के माध्यम से साथ वे अंगरेजी का भी अध्ययन करते रहे। जिसके फलस्वरूप १८९८ में पोन के 'एंग्लो इण्डियन क्रियेटिविज्म' का अनुवाद 'समासोचनादर्श' के नाम से नागरी-अक्षरिणी-प्रक्रिया में प्रकाशित हुआ।

रत्नाकर जी का साहित्यिक जीवन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग १९०२ में ही समाप्त हो जाता है। १९०२ ई० में रत्नाकर जी के जीवन का एक नया पृष्ठ खुलता है। पुनः १९२१ में इनके साहित्यिक जीवन का द्वितीय भाग प्रारम्भ होता है।

१९०२ ई० में रत्नाकर जी अयोध्या के राजा महाराजराज्य सिंह जी के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए। अयोध्या में अयोध्या के राजा प्रताप साहिबपुराणी हुए। कवि द्विवेद (राजा मानसिंह) अयोध्या के ही राजा थे जो रीत काल के अन्तिम भेद कवि हुए हैं। द्विवेद के अर्त-ज सुधनेय का भी प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। सर महाराजराज्य सिंह जी हुआ माधव भी हिन्दी के परम अनुसारी थे। महाराजा के जीवन अर्धशत रत्नाकर जी उनके साथ कार्य करते रहे। यहीं से रत्नाकर जी का जीवन और भी अधिक वैमिश्रण हो गया। १९०९ में हुआ सादर का स्वगतम हो गया। पुनः रावी साहिब ने रत्नाकर जी को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। हमसे शक होता है कि रत्नाकर जी अपने कार्य में कुछ छूट-पूट थे। हुआ सादर



नित्यश्रावण थे। अतः उत्तराधिकार का भ्रगवा उद्य। रानी साहिबा ने अपने माई के पुत्र को गोद ले लिया। किन्तु अयोध्या-ज्येष्ठ के परिवार के ही एक सम्मान जिनका नाम त्रिभुवन सिंह था अपना उत्तराधिकार प्रमाणित करने लगे। इन पर मुकदमा चला। रानी साहिबा की तरफ से सारा कार्य रघाकर जी को ही करना पड़ता था। अतः राजवंश के इस भ्रगवे के कारण रत्नाकर जी हम बीच अधिक स्वस्थ रहे जिसके फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य को पचास प्रति बढ़ाती पड़ी। पद्य रघाकर जी की साहित्य के प्रति आगाध रुचि की धार से जब तक एक-दो कन्दुए भी डालते थे किन्तु जैसा इन्होंने स्वर्ण कहा है कि हम काल ( १४ २ से १४२१ ई ) में सूर नारायण कचहरी की सेवा कर रहे थे अतः सत्यनारायण 'कवि रत्न की छ किसे मिळते ? सत्य नारायण जी का रचना-काल पड़ी था, अतः इन्होंने सत्यनारायण जी को अपना प्यारी' कहा है।'

हम बीच में जब से अपने मित्री से मिलते तो वे इन्हें साहित्य की उपहा के लिये अपाखम्ब दिया करते थे। इस पर रत्नाकर जी को भी बेद रह। अतः इन्होंने बा० स्वामिसुन्दर दास जी के आग्रह पर बिहारी सतयार्थ का सत्याग्रह एवं ईक-कार्य आरम्भ कर दिया जैसा बिहारी-रत्नाकर की मुमिना में इन्होंने लिखा भी है—

'सन् १४१० ई के जापों में संयोगवश महीने वेद महीने मुझे अग्रज-उ में रहना पड़ा। हमारे दिव मित्र बा० स्वामिसुन्दर दास जी ५० इस समय वहीं के काकीचरस हाई स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हीं के अनुरोध से कार्य का भीगवेष हुआ।'

अतः १४१० से वे साहित्य-क्षेत्र में पुनः प्रवेश करते हैं। १४१४ में समाजोपनाश प्रकाशित हुआ।

१४०९ से १४१४ तक पद्य उनकी कोई भी प्रति हमारे समक्ष उपस्थित न हुई किन्तु निम्न ही वे जब तक एक-दो कन्दों की रचना कर आसक्त थे। जब रत्नाकर जी ने पुनः साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय इलमी अकलवा प्रायः ५५ वर्ष की हो चुकी थी। उस समय तक कहीं बासी का मुबार बहुत हो चुका था। 'निराका' की जाति कवि कहीं थोड़ी में सुन्दर रत्नार्थ प्रस्तुत कर रहे थे। पर रत्नाकर जी की रुचि ब्रह्म-भाषा में ही रही। वे कहीं-कहीं की कविता को 'शास्त्रमुन्नीन, अंग-भंग कविगीत' समझते थे।

मुमिरत सारदा हुअसि हंसि हंस बही,  
 त्रिषि सौं कइति पुनि मोहं धुनि व्याऊँ मैं ।  
 बाल-गुफ-हीन अंग-भंग छवि-खीन भाई,  
 कविता विचारी वाहि रुधि रस व्याऊँ मैं ।  
 नन्ददास देव घनभानेद विहारी सम,  
 मुकवि बनावन श्री तुम्हैं मुधि थाऊँ मैं ।  
 मुनि 'रतनाकर' श्री रचना रमीली रंच,  
 डीली परी बीनहिं सुरीली करि स्याऊँ मैं ॥

यद्यपि काव्य-रचना रत्नाकर जी के लिये मुख्यतः स्वाम्ता सुखाय थी, तथापि इस छंद से ऐसा आभास होता है कि कदाचित् कहीं बाली श्री रामदीन कविताओं को रत्नाकर ग्लासविषय कविता विचारी को रसपूर्ण बनाने के हेतु ये काव्य-क्षेत्र में पुनः आय। छंद में उल्लिखित कवि इनके आदर्श हैं जिनके काव्य के समान ये अपनी रचना करना चाहते थे।

रत्नाकर जी के अयोध्यावास के समय जुप रहने के कारण श्री मदनदास बनुरेही जी ने उन पर आरोप भी किया।—

“रत्नाकर जैसे मुकवि के २०-२२ वर्ष तक जुप रहने में उनकी राव्य-सम्बन्धी अंशों जितने अंश में कारण हुई होंगी शायद उतने ही अंश में चारों ओर का अपेक्षायुक्त बावुमंडल भी कारण हुआ होगा।”<sup>१</sup>

रत्नाकर जी का मध्यमाया पर मोह होता भी स्वानुभूति ही है। कारण उस पर हृदय पूरा अधिभार था तथा उसके छंद स्वरूप का निवारण इन्होंने पर्वीत अल्पवय एवं मध्य के बाद किया था। अतः,

सन् १९१६ ई० में रत्नाकर जी के आग्रह पर ही श्री रामनाथ जी 'स्वातिनी' जयपुर भेजे गये। वे वहाँ से बिहारी-सतसई के इस्तिक्रित ग्रन्थ एवं तत्सम्बन्धी काव्य सामग्री का संकलन करके १९२० तक वापस आ गये। सन् १९२१ ई० से रत्नाकर जी ने बिहारी सतसई का सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया जो १९२२ ई० में पूरा हुआ। उसके उपरान्त रत्नाकर जी की खेन्दनी अथाप गति से चल पड़ी यद्यपि दरबार के काय से अब भी इन्हें पूरा मुक्ति न मिली थी।

१ विद्याल भारत मुसाई १९२८, रत्नाकर जी और उनका गंगावतरण लय। मदनदास बनुरेही, पृ० १०६।

२ रामनाथ जी अयोध्या-पुरतकालय के अध्यक्ष थे।

१२ मई १९२१ का दिन मज-भावा के इतिहास में स्मरणीय रहेगा, जब रत्नाकर जी ने 'गंगाधरदास काव्य की रचना प्रारम्भ की।'<sup>१</sup>

गंगाधरदास की रचना अपभ्रंश की प्रेरणा के अन्तर्गत हुई थी। १९२३ ई० में यह समाप्त हो गया। १९२७ ई० में 'रोका संघ के अल्प' नामक अल्प ना० प्र० पत्रिका में प्रकाशित हुआ।<sup>२</sup>

इस खेद से विरक्त दास सम्बन्धी रत्नाकर जी के शान का बोध होता है।

सन् १९२० ई० से १९२५ तक कुछ विषयों पर एक नागरी-माधुरिणी-पत्रिका आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। वह युग राष्ट्रीय जागरण का था। युग पूर्व वातावरण के प्रभाव से कोई भी व्यक्ति अपने को बचा पाने में असमर्थ होता है। अतः सभी प्राचीन एवं नवीन धारा के कवि राष्ट्रीयता का रंग में रंगे हुए थे। अनाहरदास मगधलाल जी 'बीर पंच राम' लिख रहे थे; कियोगी हरि 'बीर सतसई' की रचना कर रहे थे। पं० बदरिनाथ जी महत्त्वा ना० मिथिलभारत की गुप्त अग्नि की राष्ट्रीयतापूर्ण काव्यों की रचना कर रहे थे। अतः रत्नाकर जी भी अपनी माधुरिणी को न रोका सके और इन्होंने लिखा है।

भारत होट्टु न मारत बासी सँमारत हुम्स सधै ठिम्नि जात है।  
 त्यों 'रतनाकर' हाय औ माय बिछार्यै हिमापल हूँ दिम्नि जात है ॥  
 धाह न होत अथाह नि सौँ मृदु कोटहु पाहन मैं मिम्नि जात है।  
 भारत त्यागि कै वारस अन्हें सुधारम पारस हूँ मिम्नि जात है ॥

सन् १९३० के आन्दोलन से प्रभावित होकर गान्धी जी की प्रेरणा में इन्होंने लिखा था।

आनि बल पौरुष विहीन वीन वीन भयो,  
 आपने त्रिगाने हूँ अटार्यै साति गाँधी है।  
 कई 'रतनाकर' यौ मति गति साधी मधी,  
 आधी साति बेग सौँ असाति महा गाँधी हूँ।  
 कुटिल कुशापी के निगीरन मुलापी पर,  
 वक्र चाहि अक्रन्धरसे की फल गाँधी है।  
 प्रसित गुरद-माह आरठ अयाह परे,  
 मारत-गमन्द को गुविन्द भयो गाँधी है।

१ कियोगी माधुरिणी, बुलार १९२८ पृ० १०६।

२ ना० प्र० पत्रिका भाग ५, संख्या १९८२, पृ० ७५।

इसी काल में बीराटक की रचना हुई तथा इसी काल में इन्होंने अम्ब अष्टकों की भी रचना की। इसी युग में आचार्य रामफण्ड जी शुद्ध ने कवियों की प्रकृति की घोर मोहने का प्रयत्न किया है। पं० भीबर पाठक का प्रकृति विषय हम युग की ही देन है। पंत का भी आविर्भाव हो चुका था। रत्नाकर जी ने भी प्रकृति विषयक अमिश्रित दिव्याई और इसी के परिणाम-स्वरूप रत्नाकर के अन्तिम ८ अष्टकों की रचना हुई। रत्नाकर जी को यद्यपि पत्नी बोली भाषा से विरक्ति थी, तथापि काव्य की गतिविधि में वे भी परिवर्तन चाहते थे। जैसा कि इनके प्रथम अमिश्रित भारतीय कवि-सम्मेलन में दिये गये मापण स श्लो होता है।<sup>१</sup>

खेरोरसव स्मारक-संग्रह में मय-भाषा व्याकरण पर इन्होंने पयास प्रकाश दाला है। विंगल ग्रन्थों पर भी इन्होंने गहन अध्ययन किया था। सदैव और घनाचरी इनके मिय छन्द थे। वे इन छन्दों को रचना में सधभेद षवियों में से थे तथा देव पूर्व घनानन्द को छोड़कर वे सभी कवियों का प्रति क्लमण कर जाते हैं।

‘उद्भव शतक’ इनका सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके छन्दों की रचना अब तक हा जाती थी। हरिद्वार में एकबार इनकी एक पटी जारी चली गई थी। उसी में ‘उद्भव शतक’ के भी छंद चले गये थे। किन्तु रत्नाकर जी ने अपनी स्मरण शक्ति से श्री सदा म छन्द ग्यों के ल्यों शिख लिये, वारं छन्द पता नहीं कहाँ गये। सूर-सागर का सम्पादन कार्य इन्होंने सन् १९२८ ई० में आरम्भ किया। किन्तु दुभाग्यवश इनके द्वारा यह कार्य सम्पन्न न हो सका। यद्यपि इसमें सग के तत्र बीयाई भाग तक वे बसका सम्पादन कर चुके थे। नबम स्कन्ध तक तो वे उसे प्रकथित भी करवा चुके थे। इनके हाथों और भी कई ग्रंथों का सम्पादन समय-समय पर हुआ। १८९७ ई० में ‘सुजान-सागर का सम्पादन हुआ। घनानन्द पर यह सधप्रथम ग्रंथ प्रकथित हुआ। ‘हम्मोर-इठ खेरोरर रचित ना प्र० सभा में सम्पादित करके प्रकथित किया। कवि-कुल-कौटुम्बरण का भी सम्पादन इन्होंने किया और भी अनेक ग्रंथों का सम्पादन किया। शिपात्री का पत्र को पारमी में था उछे भी सम्पादित किया गया। निरालात्री

१ प्रथम अमिश्रित भारतीय कवि सम्मेलन स दिये गये मापण में लिखा है — बह भाषा क कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी कविता के रंग-रंग तथा रचना प्रशाची में समय की आवश्यकता तथा समाज की रुचि के अनुसार कुछ परिवर्तन आरम्भ करें। पृ० १७, १८।

वे बाद में इसी पत्र के आचार पर अपनी विरिह रचना 'शिवाजी का पत्र' लिखी थी ।

१६-१९-२१ में वे प्रथम अखिल भारतीय कवि सम्मेलन के प्रधान सभापति पद पर अर्हता प्राप्त हुए थे । अनुसूच प्रान्त सम्मेलन के हिंदी-विभाग के सभापति थे १९११-१६ को चुने गये थे । सन् १९३० ई० में वे बीपबे अखिल-भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के भी सभापति चुने गये थे । इस सम्मेलन में एक आन्वयिक रोचक बयान कर्कित की आती है । जब यह सभापति-पद ग्रहण करने के लिये गए तब अपने राजसी दाढ़-बाद में गए । सम्मेलन के कार्यकर्ताओं की आशा थी कि कोई लहरकारी मुकल जीय व्यक्ति सभापति होंगे पर स्थान पर पहुँचने पर उनकी कल्पना के विरुद्ध तत्पक्ष की के दाढ़-बाद की बोलकर उनकी भावनाओं को बखत पहुँचा और स्वागतार्थ जो हार आदि से लाने से उन्हें बच लाया के गये । विस्तारित तत्पक्षीय राजाओं पूर्व शास्त्रकारों के व्यवहारका सामान्य जगता का इस बगबिरोध से हुआ हो गई थी । अतः यदि उन लोगों के ऐसा किया तो आश्चर्य नहीं । स्पष्ट है रत्नाकर की का रहन-सहन एवं रोचक-शाम किसी राजा महासाया से कम न था । किन्तु साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने कभी आरतस्य नहीं दिखाया ।

प्रीत्य काष्ठ स्पीति करने के लिये वे प्रतिवर्ष के अनुसार १९३२ में भी बरिहस्त गये हुए थे । १० वर्ष की आयुवा से उन्हें हृदय-रोग हो गया था । पर बीछे से पूर्व स्वस्थ थे । कार्य करने की कमला इनमें बहुत थी तथा साहित्य-सेवा से अपनी पूर्व शक्ति से करते थे । १९३२ ई० में २२ जून को इनका वैदायसाय आधानक ही हो गया । इसके पित्त इनकी कई रचनाओं की मुनने के लिये उत्सुक हो रहे थे । किन्तु २२ जून को उन पर बलावस्त हुआ जब उनको हात हुआ कि रत्नाकर की अंतिम यात्रा कर चुके हैं । रत्नाकर की का अंतिम कुर विम्वरिहित था जो १९ जून को "अखिलभारत एरिमबी ही" के रचयिता कृष्णराज की रानी की बाराता की म्मंसा में रचा गया था ।

रानी पूषियत्र की निहारति सिंगार-दाह,  
 पासि सु हीठि गय विविध विसाली पै ।  
 यह 'रत्नाकर' किरी ल्यौ कैंसी फंड बीच,  
 लम्बयी नगीच नीच भरम अचली पै ॥  
 परसय पानि अनवान पत्रपूठी आनि,  
 औचक अचूक पास कीन्हीं धूमि आली पै ।

मन्त्रि मन्त्रक कर पन्कि घर पै धरी,

काठी नोक गय्यर अमर्य्यर की छाती पै ॥

रत्नाकर जी स्पष्ट शरीर के थे। उनका मुल-मण्डल कान्तिमय एवं रोमपूर्ण था। एक दृष्टि में किसी को भी इनके ताजुद्देवार होने का भ्रम हो सकता था। जैसा कि इनकी समापति-सम्बन्धी घटना से स्पष्ट है जो इनके साथ कलकत्ता स्टेशन पर घटी थी। रत्नाकर जी ने जिम पुग में जन्म लिया था वह मध्यवर्ती सस्कृति का था जिममें सामन्ती प्रवृत्ति प्रभुत्व थी। रत्नाकर जी का परिवार राज-दरबारों के सम्पर्क के कारण स्वतः सामन्ती प्रवृत्ति प्रयान था। रत्नाकर जी स्वयं भी आशावाद् रियासत एवं अयोध्या दरबार के प्रभाव से प्रेरित: राजोगुण प्रयान हो गये तो आश्चर्य ही क्या। किन्तु इसका फल यह भी करना उचित न होगा कि ये विद्यार्थी थे अपना कार्य करने में आसक्त्य करते थे।

रत्नाकर जी के हृदय भी साधारण्य थे। हुन्दावन में गोपालमठ का स्थापित किया हुआ राजारमथ कर मन्दिर है। गौड़ीय माध्व सम्प्रदाय से इसका सम्बन्ध है। रत्नाकर जी पूज्य रूप से भक्ति मार्गों थे। जिस प्रकार सूरदास जी ने भक्ति धर्म का अनुमादन किया है उसी प्रकार उन्होंने भी किया है। इनके 'ठग्ल शतक' की गौपियॉ तर्क में किसी भी बर्दास को परास्त करने में समर्थ होंगी।

काशीवासी होने के नाते मगवान् शंकर पर इनकी श्रद्धा का होना स्वाभाविक ही है। रत्नाकर जी भी शिव जी का धर्मिय पूजन करते थे। धर्म के विषय में रत्नाकर जी अन्वेषिक उदार थे। किन्तु फिर भी सांग्र्यायिच्छा उनमें कुछ अंश में था ही गई थी। गंगावतरण की रचना से गंगा जी के प्रति भी उनकी श्रद्धा का आभास हमें मिल जाता है।

रत्नाकर जी के ही परिधम से रमिक-मण्डल नामक ब्रह्म-भावा कवि-समाज की स्थापना हुई जिममें वे बराबर भाग्य करते तथा मन्त्र-भाग के कवियों को प्रोत्साहित किया करते थे। काशी में गोपाल मन्दिर में कवि-समाज की शोक बैठक हुआ करती थी। इसमें भी वे प्रति दिन जाया करते थे। हुने श्री १०८ गौण्धमी बालहृण्य महाराज ने, जो काँग्रोली मठ के पुराधिपति थे, स्थापित किया था। बार में मलभेद् हो जाने पर हुन्हीं इस कवि-समाज की सदस्यता छोड़ दी थी। किन्तु वे फिर भी जब तक बचे ही जाया करते थे। यह समाज सभी कवियों तथा सर्वनाधारण के हितार्थ स्थापित किया गया था। रत्नाकर जी की महाराज से प्रगाः मित्रता थी। उन्हीं के धारेणानुसार हुन्हीं ने बजाही-

विक्रम-रत्नाकर की रचना की थी। बन्हीं के भाइयानुसार इसे कवि-सभाज के हित के लिए भी रामहृदय कर्मा ने भारत जीवन प्रस से मुद्रित किया था।

प्रायः रत्नाकर जी घर से बाहर ही रहा करते थे। धीप्पकाठ तो सर्वैव पञ्च-तीय प्रवेशों में ही ध्यतीत करते थे। पर ये बहर्षी करते थे अपना सारा समाज का बन्धे थे और साहित्य-रचना निरन्तर चला करती थी। ये कमी प्यप के डिबे स्थित न होते थे। प्रायः हरद्वार में ये गर्मियों में जाते थे। इसके साथ इनके लिपिक भी जाते थे। अतिम दिनों में ये सूरसागर का सन्पाद्य कर रहे थे। अपने लिपिकों को भी ये कई विभागों में बाँट देते थे। हर विभाग के लिपिक को भी असग-भक्तग कार्य बाँट देते थे। वे प्रवाग भी जाता करते थे। प्रायः बाहों में ये ब्रह्मनन्द करते थे और अयोध्या-भवन में ठिका करते थे।

रत्नाकर जी का आश्रम ही सर्वसुखम विज है उसमें वे अचञ्जल श्रुतीदार पाचबामा पय्य शू गौस रोपी चारख किये हुए और हाथ में पतली लकी शिपे हुए हैं। पर रत्नाकरजी की सर्वैव से पही केठ-भूपा व थी। अपने जीवन के मारमिक दिनों में ये बभारसी कठ-भूपा पसन्द करते थे। बोरी कुर्ता और दुपहती रोपी चारख किया करते थे। कमी-कमी अपने समाज में ये पगही भी पहनते थे। इनका पगही पहना हुआ विज रत्नाकर-भक्त में आज भी सुखम है। पूजा करने उठे हुये और हुका पीते हुये भी इनका एक विज है। इस विज में ये कसी हुई छापी बाँह का बपही पहने हुए हैं। पीती कुर्ता के साथ वे प्राय रेशमी दुपहा भी डाल शिपा करते थे। इस केठ में भी इनका एक विज है। कदाचित् अपाध्यायास के बाद से इन्होंने स्वामी रूप स श्रुतीदार पाचबामा, कुर्ता और अचञ्जल का परिधान अपना लिया और जीवन पर्यन्त ये वेही बंध चारख करते रहे। घर पर भी ये प्राय सर्वैव इसी बप में रहते थे। रत्नाकरजी सन्पद्यता पूर्व सपुद्धि के वातावरण में पले थे अतः स्वतः तो सामन्ती स्वभाव के थे ही पर अयोध्या-वास से उनके जीवन में कित्तेप कम से परिवर्तन हो गया था। अब ये हीबाव के पद पर थे। अतः अपने ब्रह्म-बाद में कमी न सहन कर सकते थे। रेशमी बन्नों का उपयोग अधिक करने लगे। प्राय चौड़ी के पात्रों का उपयोग भी पचाँस रूप से होने लगा। चौकों में वे सुर्मा भी लगाते थे। उन दिनों इसका फैशन था। पाल भी वे ब्यादा खाते थे और हुका पीने में वे गर्ब का अनुभव करते थे। सर्व-साधारण को अपने स निम्नस्तर का समझने लगे थे। पहले की तरह अब वे सभी से दास्य-विनोद भी न करते थे।

रघाकरजी भोजन भी संयमित रूप से करते थे। वे सदा एक नम्र होशधर में भोजन करते थे। फल हैं अल्पधिक मिय थे। दिव भर प फल खाया करते थे। इनका स्वास्थ्य इसी पर निर्भर था, कारण भोजन तो वे एक ही समय किया करते थे। रात्रि में नियमित रूप से प वृष दिया करते थे।

रघाकर जी अल्पधिक सरस, किनोदमिय एवं उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य का भी पचाँठ अध्ययन किया था। पोप का 'पुस्तक ऑन क्रिस्टियनिज्म' का तो इन्होंने 'समाखाचनादर्श' नाम से अनुबाद भी किया है। वे दैनिक्य के अधिक पसन्द करते थे। वे चारसी में एम० ए० करना चाहते थे। चारसी में तो कविता भी करते थे, हिन्दी में तो इनका वाद में प्रकाश हुआ। राधाकृष्ण दास हुए 'महाराजा प्रताप' नामक वादक में एक गजल रघाकरजी की ही सहायता से रची गयी थी।

१ राधाकृष्ण दासजी ने फुन्नेट में लिखा है। "यह गजल निपचर बाबू जगन्नादास बी० ए० 'रत्नाकर' की सहायता से बनी है।"

रहा मैं गुमराह कियगी मर इलाही तोबा इलाही तोबा ।  
 बला मैं नेबी की हाथ राह पर इलाही ताबा इलाही तोबा ॥  
 दी इच्छिये मुझको बादशाही कि तेरे बन्दोंको पहुँचे चाहत ।  
 बले किया मिते प्रेम इन पर इलाही ताबा इलाही तोबा ॥  
 रहा सगा नफरतबरी में न हिल दिया दाद गुरतरी में ।  
 पड़े धरी अरु पर यह परपर इलाही तोबा इलाही तोबा ॥  
 बहाना बालिम कुशी का करके किये बहुत मुल्क पतद हमने ।  
 बले किय और उनपे बहतर इलाही तोबा इलाही तोबा ॥  
 भला हो इस हूर पारसा का उदाया धाँधो स जिहने परदा ।  
 हँ रिस्त एमास मरे अकतर इलाही तोबा इलाही तोबा ॥  
 दुआ है दामन गुनार यो तर कि गर निजुङ्ग आब यह बनी पर ।  
 तो हूब जाऊँ मैं उछने वा सर इलाही ताबा इलाही ताबा ॥  
 पकड़ तरे बाउरीसो परस बा है एक मरहा मुझे लुहाला ।  
 नही कोई और अब है यादर इलाही तोबा इलाही तोबा ॥  
 नजर जो किरवार पर मरे की तो हो सुडी शऊ गुगलिषी की ।  
 नियाह अपनी करम प' नू कर इलाही तोबा इलाही तोबा ॥



इनकी विभिन्न प्रकार की कवि के कारण इनके मित्र भी विभिन्न प्रकार के थे। इनकी सरसता से सभी इनकी ओर आकर्षित हो जाते थे। इनके मित्रों में सभी प्रकार के व्यक्ति थे—शास्त्र अंग्रेजी परे-सिल बचपुत्रक हिन्दी के कवि सभी सम्मिलित थे। सत्पत्रक में जब ये आते थे तो प्रायः ही जगह किराण रूप से आते थे। एक तो राममनुन्दर शास्त्री के घर दूसरे मित्रकन्दु मकल। पं० हृषीकेशिहारी मिश्रजी से इनकी प्रबन्ध मैत्री थी। रत्नाकरजी उन्हें अपने इन्द्र मुनाया करते थे। माधुरी का सम्पादन छोड़ कर जब वे गम्भीरी चले गये तब भी रत्नाकरजी अपने कलकत्ता आने की सूचना उन्हें एकबार से दिया करते थे और वे सत्पत्रक आ जाता करते थे। रत्नाकरजी ने अपनी तुलना पद्माकर से करते हुए कहा था कि पद्माकर में तो पद्य ही उत्पन्न होते हैं किन्तु रत्नाकर में तो रत्न उत्पन्न होते हैं। इस पर मिश्रजी ने गम्भीर होकर कहा था कि हाँ रत्नाकर में तो और भी बहुत कुछ हाता है, पद्माकर तो केवल पद्य ही प्रदान करता है।

रत्नाकरजी के स्वभाव की विनम्रता उनके इस प्रकार के शब्दों से प्रकट होती है 'मेरी इच्छा है कि इस क्षेत्र में पत्राचारि स्वयं रूप से काम का संचालन स्थिर करके पद्यि इस विषय पर विचारने के हेतु मेरे एक कठु मति के प्रयास होने से विद्वन्मण्डली में हँसी हो जाने की सम्भावना है तथापि वह समझकर विरह्य करता हूँ कि यदि कहीं मेरी समझ में गूढ होगी और कोई महत्प्रयत्न कृपा करके मुझे सूचित करेंगे तो इसी स्वाभाव से मुझे रिश्ता निश्चयी।"'

किन्तु उक्त विनम्रता के साथ ही साथ रत्नाकरजी में गर्व की मात्रा भी पर्याप्त थी। यद्यपि इन गर्व ने बमकड का रूप नहीं धारण किया था। बड़ों का आदर एवं विनम्रता का आभास दिग्गज बटला से स्पष्ट हो जाता था। क्याख्या में द्विज बलदेव जी आए हुए थे। उनके इन्द्र में रत्नाकरजी को कुछ घनीक्षित्य प्राप्त हुआ और इन्होंने उद्ये स्पष्ट रूप से सबके समक्ष यह दिया। यद्यपि रत्नाकरजी ने सहज स्वभाव से ही कहा था किन्तु द्विज बलदेवजी उसे सुनकर गम्भीर हो उठे और रत्नाकरजी की आत्मा पर धरो। इस पर रत्नाकरजी उनके शरों पर गिर पड़े। उस समय द्विज बलदेवजी इनके घटिधि भी थे आता कदाचित् हर्षमिश्रने रत्नाकरजी को और भी ज्यादा दुर्बु होगी कि घटिधि का सम्पूर्ण सम्मान न हो सके।।

रत्नाकर जी ने गंगावतरण काव्य के चारम्भ में अपनी तुलना वाल्मीकि जैसे कवियों से की है—

“त्रिषा जुग मुनि वाल्मीकि द्वारपर पाण्डुर,  
फल में यह सुनि चरित चारु गँहै रत्नाकर ।”

इसी प्रकार वे अपने का रत्नाकर काव्य-रसों से पूर्ण विरासत सागर मानते थे। पद्माकर से अपने को श्रेष्ठ कहने में उन्हें कभी संकोच न हुआ। क्लृप्त काव्यों में वे कहते हैं—

आसुषेन्द्र प्रभेद परम भेदी गनेस से,  
रस-मयोग आचार्य चारुमति त्रिषकेस से ।  
सुकृति सौम्य साहित्य सलिलधर गंगाधर से,  
रोषक कवितारब रुषिर गृह रत्नाकर से ।<sup>१</sup>

मनुष्य में आत्मानिमान होना अत्यधिक आवश्यक है। अतः यदि रत्नाकर जी में था तो उचित ही था। इसकी इन गणोक्तियों को अनुचित कहना शक्य न होगा। बड़े सामान्य रूप से तो वे अत्यधिक सरल स्वभाव के थे। वे क्रिमी का आघट्ट टाठने का सादस न करते थे। दिग्दी-साहित्य-सन्मूलन में बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी आनेवाले थे। अतः कुछ लोगों ने उनसे खर धारण करके आने का आघट्ट क्रिया करी इन्होंने इस आघट्टको सार्व स्वीकार कर लिया। इसमें स्पष्ट है कि वे अत्यधिक शक्तिवान् थे।

किसी भी कवि की काव्य-कृतियों पर उसकी व्यवगत रचि का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अतः रत्नाकर जी की रचि पर भी दृष्टि बल बना उचित ही होगा। रत्नाकर जी को कल्पन में कर्तुर पाठने का शौक था। अनेक प्रकार के कर्तुर रत्नाकर जी पाठा करते थे, जिनका चित्रण रत्नाकर जी ने गंगावतरण में इस प्रकार किया है—

जल सौ जल टफराइ कहुँ उच्छलत उर्मगत ।  
पुनि नीचै गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत ॥  
मनु ध्रगदी कपोठ गोठ के गोठ उद्गाण ।  
सरि अति ऊँच हजरि गोसि मुनि चलत सुहाय ॥२६॥

(सप्तम सर्ग)

पुत्रसगरी का भी इन्होंने पर्याप्त शौक था, प्रायः वे घोड़े पर निकलता करते थे। प्रातःकाल वे घोड़े पर दूर तक चले जाते थे। बुद्धावस्था आने पर

हमूँने सुझवारी झोड़ हो थी। संगीत का भा हमूँने रांक था। गितार पदंग तथा बीन बहुत अच्छी तरह बजा लेते थे।

पैदा चलना भी हमूँने देखिवा था। इनके चलने की शक्ति एवं गति का अनुभव हम इस बात से लगा सकते हैं कि कई बार ये देहरादून से मंगूरी तक पैदा चले गये थे। यद्यपि अयोध्यावास के बाद ये स्कूल छोड़ ही जाने के कारण अधिक शारीरिक परिश्रम करने में असमर्थ हो गये थे तथापि हमने शक्ति की कमी न थी। प्रातःकाल ये प्राण-पैदा ही टटलते जल्पा करते थे यद्यपि बाद में हनुमान-नाम के नम्र जाने से हमूँने पैदा चलना छोड़ दिया था। दूर तक टटलते हुए जल्ते पंक्तिनु सवारी समय रहती थी और लौटते तो सवारी पर ही। सन् १९०३ ई० में एक बार ये बम्बई गये हुए थे। उन दिनों मोटर का बयान-बया प्रचार भारतवर्ष में हुआ था। अतः हमूँने वहीं एक मोटर खरीद ली और इसे चलावा भी सीख लिया। पहले तो हमूँने स्वयं चलाव का सीख वा, पर ली भर जाने पर बाद में ब्राह्मण रख लिया। ये प्राण-नाई मोटर खरीद लिया करते थे। नाई-नाई मोटरों से हमूँने विशेष रुचि थी। 'कल कार्पा' में हमूँने मोटर के विषय में लिखा है—

पौन वेग अति मौत गौन मोटर मनभाए।

कल्य फलित गौरव देश के दिव्य बनाए ॥'

उन दिनों कचे बाबू अदि कल के बीट बीट शर्तों पर लिखना तथा चित्र बनाना कलापूर्वक रुचि मानी जाती थी। हमूँने भी इस कला के प्रति प्रेम था और जाने पर सुई से से पूरा खोख लिख दिया करते थे। सम्भव है उन दिनों कलाकारों के लिये यह साधारण बात ही पर आज तो इस बात पर विचार भी करना कठिन क्या असम्भव-सा प्रयत्न होता है। हुआ पीने की बात हम पहले का बुके हैं। उसका हमूँने इतना ज्वाला शोक था कि कहा जाता है कि कुछ इनका दिन-रात का साथी बना हुआ। घर में, प्रसक्तकाल में, दूध में—साल्फर बह बिहार स्थान पर इनके साथ इनके का होना आवश्यक था। यहाँ तक कि बीड़े पर जब जाते थे तो पाण्डुराव पर भी हुआ रखा रहता था। प्रातःकाल जल्ते ही हुआ पीते थे। सभी इनका चित्र इनके साथ प्रातःकालीन बेप-मुपा में है। यह चित्र मुझे उनके पौत्र की रामकृष्ण को भी कल से देखने को प्राप्त हुआ। एक लीटर दूध समय पर हुआ तैयार करने के लिये निपुण था। यद्यपि अल्प काय में हमूँने इनके

का कहीं उल्लेख नहीं किया है तथापि इसके से इन्हें काव्य-रचना की मेरवा मिल जाती थी वना अक्षर्य प्रतीत होता है ।

प्राचीन शिक्षा लेखों की पढ़ने की दृष्टि उनकी बड़ी महत्त्व थी ।

सकाट समुहग्रह के वा चाहे एक अक्षरक समावह धर में तथा दूसरा अक्षरमात्र बहारस में लिखे थे । इन दोनों के ऊपर का लेख पढ़ने में रत्नाकर जी ही सफल हुए थे । अक्षरक बाह्य अक्षर पर जो लेख था अक्षर विद्वानों ने केवल मात्र चित्रकारी समझ कर ही छोड़ दिया था किन्तु रत्नाकर जी की तीव्र दृष्टि ने उसे अक्षर माना और वे पढ़ने में भी पूर्ण सफल हुए । इनके तत्पश्चात् ही लेख 'अध्यात्मिक सासाहृद्य' के अन्त में तथा 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ़ रिसर्च' आदि में प्रकाशित हुआ करते थे ।

रत्नाकर जी माहृत, संस्कृत एवं अक्षरक में पर्याप्त दृष्टि रखते थे । इनमें जी अर्थ लगाने की उनमें शक्तिपण शक्ति थी । पं० अक्षरक समा गुणेश्वरी ने पुरानी दिदी' नामक लेख में अक्षरक का एक संद दिया है और लिखा है कि उसका उचित अर्थ रत्नाकर जी से ज्ञात हुआ जबकि बड़े-बड़े विद्वान् भी उसका अर्थ न ज्ञात करके थे । मदन काक अनुर्वेदी ने अपने लेख में लिखा है -

'रत्नाकर जी केवल कवि ही नहीं थे बरिष्ठ माहृत, संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू और अन्य भाषाओं के पंडित भी हैं । वे भाषा विज्ञान के बड़ा हैं । पुराने ग्रंथों का उनका अध्ययन अत्ययन है । कविता के काव्य के वे पंडित हैं ।<sup>१</sup> श्यामसुन्दर दास जी से भी रत्नाकर जी के अर्थ करने की समता के लिये लिखा है "संदी या श्रीपादों और दोदों का विच्छेद अर्थ करने में यह बड़े ही निपुण हैं ।"<sup>२</sup> अम्बिकादत्त व्यास ने उनके टीका करन की प्रशंसा की है और डा० गंगालाल शर्मा ने भी बिहारीरत्नाकर के सम्बन्ध में लिखा है, "इस ग्रन्थ का देखने से ही स्पष्ट है कि रत्नाकर जी केवल समय कवि ही नहीं बरिष्ठ बड़े समय टीकाकार भी हैं ।"<sup>३</sup> इना अक्षर में उन्होंने आगे कहा था कि मरिठ-भाव ने प्रतिज्ञा की थी कि आक्षरक ज्ञान एक भी न छोड़ेंगे और अनाक्षरक

१ ना० प्र० पत्रिका भाग २ सं० १६७८ पृ० ४६२ ।

२ रत्नाकर और उनका गंगाक्षरक सप्त हजार १९२८ । विशाल भारत पृ० १११ ।

३ दिदी अधिविद माता श्यामसुन्दर दास ।

४ बिहारी विद्वान्, पृ० १८८० अम्बिकादत्त व्यास ।

५ बिहारी रत्नाकर संग । माहुरी । १२ नवम्बर, १९२६ पृ० ।

एक भी न मिलेगी। इसकी पूर्ति रत्नाकर जी ने इसमें की है, चाहे जितनाय  
के बड़ी हो। दोहे ताँड़ का कई बरत हो सकते हैं पर रत्नाकर जी ने अपने  
के मोह में न डालकर उचित धर्म विद्वान्-मालाओं में अपनाया है।

रत्नाकर जी की इस विद्वत्त्व जगता को देख कर इस दृष्टि पर विचार  
नहीं होता कि टीका करने की शक्ति एवं कविता शक्ति एक दूसरे के विपर्यय हैं।  
कविता करने एवं टीका करने की शक्ति रत्नाकर जी में समाप्त थी।

रत्नाकर जी को आनुवंशिक का भी शौक था। अर्थात् वह पितृक वेग थी।  
दुःखोत्तम दास जी भी वैद्यक का अग्रा ज्ञान रखते थे। अथ उनकी बनाई हुई  
श्रीपथिर्वा सुरचित हैं जो आनुवंशिक के रंग से बनाई गई थीं। इनके इस ज्ञान  
का इनके काव्य में यत्र तत्र वर्णन है। 'उद्भव शतक' में इनका यह छंद इसप्रकार  
उदाहरण है —

रस के प्रयोगनि के सुखद सुभोगनि के,  
जेते उपचार पास मंजु सुखदाई हैं।  
सिनके पहावन की परबा बर्यावै कौन,  
वेठ ना सुवरोन हैं यो सुधि तिर्यङ्ग है।  
करत अयाय ना सुमाय लखि नारिनि को,  
माय क्यों अनारिनि को भरत छद्दाई हैं।  
छाँ लो विपम अर-विभोग की बदाई यह,  
पाठी कौन रोग की प्यवत दवाई हैं।

रसायन बनाने की विधि विष्णु ऋषि में भी वैद्यक के साथ बनी अतुराई से  
व्यक्त की गई है —

पद्म-चित्त-मारद की दम्भ कंजुषी के दूरि,  
बज्र-भग-भूरि प्रेम-भूरि सुम सीखी है।  
अहं 'रत्नाकर' सु भोगनि विधान भाषि,  
अमित प्रमान ज्ञान-गम्भक गुनीखी है ॥  
आदि षट्-अन्तराई अह-भूम धारि सने,  
गापी सिद्धातिनि निरन्तर लीखी है।  
आप श्रुति उपर विमूर्ति मध्य मायनि की,  
अयनि की हृदिर रसायन रसीखी है ॥१०४॥'

इसी प्रकार 'श गार लहरी' का निम्न चंद्र भी उनके वैद्य-ज्ञान की स्पष्ट प्रतीति है :—

बाल बाल परी है विहाल नंदलाल प्यारे  
 ब्याल सी खगी है अंग देखें कीटि जारे देखि ।  
 प्रेम लोक लाज मिलि विरह प्रियोप मयो,  
 फरै 'रत्नाकर' मुनन नीर डारे देखि ॥  
 सत्तर घनत्तर से हारि रहे आसि मुख,  
 अत्रोदय आलसिरी इलाज है पुष्करे देखि ॥  
 मूर्खरी मइ है दुखि यावरी मइ है मति,  
 और श्री कृष्ण है सुधि रावरी बिसारे देखि ॥'

रत्नाकर जी श्रुति के बड़े पक्षपाती थे। कदाचित् यह आधुनिक प्रभाव आपसमाज के द्वारा उन पर पड़ा हो। इनका विचार था या कि मुसलमानों को पुनः हिन्दू बना लिया जाये और सारा धगड़ा समाप्त हो जाये।

फिरन गाड़ी में प्रायः सप्ताह मसप निकलत थे। फिरन का इन्हें अत्यधिक शौक था। पुषाबन्धा में यह शारीरिक व्यायाम करते थे। मुन्दर भी मूर्खते थे। जोड़ी धुमाने का विशेष रूप न इन्हें शौक था। कृष्णबन्धा आने पर इन्होंने इसे पीछे दिया पर कमरत मर्दप किया करते थे।

रत्नाकर जी के कई मित्र थे। प्रयाग में रामप्रसाद जी बर्मों तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल 'रत्नाम' इनके घनिष्ठ मित्रों में से थे। लखनऊ में बाबू राम मुन्दरदास जी तथा पं० कृष्णविहारी जी मित्र भी उनके परम मित्र थे। इनके अतिरिक्त पं० रामनारायण पाण्डेय, पं० बुनारेलाल भागवत तथा पं० बदरीनाथ मठ का भी साहचर्य इन्हें मित्र था। कर्ना में हरिचौप जी, लाला भगवान सिंह, या सापाहन्व दाम या० बत्तम दाम, पं० रामनारायण मिश्र आदि उनके मित्र थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी काशी आन पर सपदपम इन्हीं के विद्यालय-काल पर टहरे थे।

एक बार रत्नाकर जी अपने इन्व रोग का इलाज कराने दिल्ली गए थे। वहीं इन्होंने पं० पदमिंद शर्मा से हो गई। वहीं के आग्रह पर लखनऊ रत्नाकर जी वहीं के नाथ दरकुष्णागत्त पहुँचे। राग की चक्का के पश्चात् काष्ण-चर्चा भी प्रारम्भ हो गई। एक-विहारी का बिना उक्त दिनी मरिदिपिक एत्र में एक मिय विरय बन गया था। रत्नाकर जी एवं पं० नाथराम गह्वर शर्मा दोनों

ही विहारी के उपासक थे। अतः देश के प्रसंग में शंकर जी ने लिम्न कृत् बना कर सुना दिया—

न जी अल की जल्पना से मरें,  
 कृमा सत्य के भूठ से क्यों मरें।  
 विहारी के आगे परी देव की,  
 नहीं नापवी लो क्यो क्या करें।'

इस पर सब लोगों ने बड़ा आनन्द किया। एवं हँसी हुई।

श्रीरामकृष्ण वर्मा से भी रत्नाकर जी का अच्छा संबंध था। श्री रामकृष्ण वर्मा भारत-वैश्व मेस के अध्यक्ष थे। वे बङ्गदेश जी की कविताओं का संग्रह प्रकाशित करना चाहते थे। किन्तु पत्रनेत्र जी के कविता-कटिबद्धता से प्राप्त होते थे। कला-कर्मिने नद घोषणा कर ही थी कि श्री पत्रनेत्र जी के कविता-कटिबद्धता से प्राप्त कविता एक कृपा पुरस्कार स्वकम मिलेगा। रत्नाकर जी ने स्वयं ८-१० कविता पत्रनेत्र जी के नाम से जोड़कर बना बाड़े। १३ कविता पत्रनेत्र जी के भी उन्हें पाए थे। वे सब मिलकर उन्होंने रामकृष्ण वर्मा जी को दे दिये और उनसे स्वयं बमुक्त कर दिये। रामकृष्ण वर्मा स्वयं काव्य के समर्थ थे, किन्तु रत्नाकर जी की अनुकरणीय कृपा-कृता के कारण वे रत्नाकर-रहित अब कविताओं का लाभ सके और उन्हें पुरस्कार-स्वकम लाने दे दिये। बाद में रत्नाकर जी ने वे स्वयं काव्य कर दिये और नद भेद उन्हें बतला दिया। रत्नाकर जी की कविता-प्रियता का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

लखनऊ में हुई 'प्रसाद' की मित में। प्रसाद जी और रत्नाकर जी में बड़ी आत्मीयता थी। साथ-साथ बैठ कर कवियों काव्य-कर्मों में व्यस्त कर बाँटते थे। अनूप जी को रत्नाकर जी के साहचर्य का पूर्ण अनुभव प्राप्त हुआ था। अयोध्या में हुनके साथ ही ने कुछ दिनों तक रहे थे। जब रत्नाकर जी लखनऊ आए तब भी अनूप जी उनके पास आकर रहे और काव्य-पुर के प्रथम अधिवेशन भारतीय कवि-सम्मेलन में भी उनके साथ गए। अनूप जी से बहुत हुआ है कि रत्नाकर जी कभी कभी कभी कभी कभी कभी के उदर से नहीं बैठते थे। समय-समय पर स्वतः उनके मुख से काव्य-पारा प्रकाशित हो पड़ती थी। इस विषय में अनूप जी ने भी उक्तका अनुभव किया है। रत्नाकर जी उदात्त-कवि लखनऊ-कवि साहित्य-रचना के दोषों पर व्याज नहीं देते थे,

१. माजुरी: विहारी-रत्नाकर, नवम्बर १९२६ ई०। पृ० ५०७

२. रेखा विहार बनारसी पास बटुनेही। पृ० १०६।

अपितु यह समझते थे कि वे स्वयं समय पाकर ठीक हो जायेंगी। रैल व स्वयं अपने कायापार्श्व से कम स्तर पर काम्य-रचना पाप समझते थे।

रत्नाकर जी शक्ति व्यक्ति थे। उनकी रसिकता पर ५० गिरिजादत्त शुक 'गिरिजा' ने लिखा है : "बाबू जगन्नाथ दास जी० ७० के स्वर्गवास के समागम ही मात्र पहले उनसे मिलने का सीमांत प्राप्त हुआ था। उनकी सरसता एवं सहोष्णता उनके मधुसूक्त प्रेमियों के सम्मुख भी उनकी रसिकता की प्रकृति का साक्षात् प्रस्तुत कर उठी थी। नारी लावण्य के प्रति अत्यंत अनुराग उनके व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता थी चाप भी यदि आपने उनके पास बैठ लिया है तो इस विशेषता की अमिट छाप को अपने हृदय पर अंकित होके देख ही आप उठ सके होंगे।" यद्यपि इस कथन में अतिशयोक्ति है।

रत्नाकर जी को भी दुस्सहस्रसाल मार्गव ने आह्वसी कह डाला है। यद्यपि यह झूठा आरोप भी कहा जा सकता है। अयोध्यावास के कारण रत्नाकर जी कुछ सामन्ती प्रकृति के अन्वय थे पर वे आह्वसी न थे। हाँ स्वयं शिष्टने की धारत उनकी पुत्र गयी थी। काम्य-रचना तो कर लेते थे किन्तु आसौषणा आदि बिना अन्य लिपिक क से न कर पाते थे। बिहारी-रत्नाकर में रत्नाकर जी को कुछ विलम्ब हुआ था। इसी पर ५० दुस्सहस्रसाल मार्गव ने उन्हें आह्वसी की उपाधि दे डाली। वास्तव में अहाँ अयोध्या-यात्र से दिव्यी-साहित्य की एक आर डक्ति उठती पड़ी वहीं दूसरी ओर साम भी हुआ। यदि वे आपणा में न होते तो बिहारी-रत्नाकर का सम्पादन असम्भव था। रत्नाकर जी आर्थिक अदिकता से मुक्त थे। अतः स्वाधीन हीकर तन-मन-धन से काम्य में साहित्य-सेवा करते थे। रंगारतरथ पर इन्हें १२०० रुपये का मंगलदासदा पुरस्कार मिला था। यह इन्होंने मापरी-अधिरिशी-मन्ना को दे दिया था। इनके प्रतिरिक्त इन्हें हमी रचना पर दिव्युस्तानी-यकेवेमी से भी ५०० रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'मूर सागर' का प्रायः श्राम अल्प तक दा-नीन लिपिक रंग कर अपने ही व्यय पर सम्पादन एवं प्रकाशन किया। वास्तव में यदि रत्नाकर जी को अन्धेरेकी स घेरवा न मिलती तो रंगारतरथ का निमाप ही न हुआ होता। रत्नाकर जी ने जो धन समर्पित किया उसमें प्रति बंध ही रत्नाकर पुरस्कार की व्यवस्था की गई है। रत्नाकर जी का पुस्तकालय भी उनके पुत्रपति ने उनके देहावसान के पश्चात् समा को दान कर दिया था। इस



पुस्तकालय में सुरसागर की हस्त-लिखित १३ प्रतिपों, 'विहारी सतसई' की हस्तलिखित ६ प्रतिपों तथा अनेक अन्य पुस्तकें थीं।

रत्नाकर जी में अपार ज्ञान एवं अपूर्व शैर्ष था। पाषाणियों के लेख पढ़ने के साहस से उनकी सघन क्य पता लगता है। सुर-सागर जैसे महात् ग्रन्थ का सम्पादन, वह भी विहारी हुई सामग्री को पुनर्रचित करके, महात् शैर्ष की अपेक्षा रखता था। रत्नाकर जी में सूक्ष्म परबिचय की शक्ति थी। इनके स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक विप्रय से इनकी परबिचय-शक्ति का पता चलता है। रत्नाकर जी ने ज्वर भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध शहर गूने थे। यात्रा करने में वे पर्याप्त कुशल थे।

यद्यपि रत्नाकर जी लड़ी बोली के विरोधी थे किन्तु फिर भी उन्होंने लड़ी बोली में दो रचनाएँ की हैं। जिससे अनुमान होता है कि यदि वे और दीपावु होकर स्वर्गवासी होते तो लड़ी बोली में भी सुन्दर रचनाएँ कर जाले। कदा-चित् उन्होंने इन दो जन्तों की रचना करके लड़ी बोली में भी ब्रजभाषा का साहित्य एवं माधुर्य जोड़ा हो।

रत्नाकर जी तुलसीदास रामायण की टीका करना चाहते थे, पर यह कार्य उनके असामयिक निधन से नहीं हो सका। विहारी पर भी एक पुस्तक समीक्षा के रूप में लिखने का विचार था। इसी उद्देश्य से प्रायः वे विहारी-सम्बन्धी खेद जब तक लिखा करते थे। यद्यपि वे इन खेदों को पुस्तक का रूप न दे पाए किन्तु जब उनके पीय श्रीरामकृष्ण जी ने विहारी पर उनके सभी खेदों को एकत्र करके 'कविवर विहारी' नाम से पुस्तक प्रकाशित कर दी है।

रत्नाकर जी को अपने जीवन काल में विभिन्न संस्थाओं से उचित अभि-मन्त्र पत्र मिले थे जिनमें कई तो गह हो चुके हैं पर जब भी कई अभिगन्धन पत्र रत्नाकर-भवन के हाथ में खगे हुए हैं। कुछ मान पत्रों में उन्हें उपाधि भी प्रदान की गई है। 'भाषा मान पत्रम्' सम्बत् १३७७, पीय मास, कृष्ण पक्ष चतुर्थी को भारत धर्म महासंघट्ट द्वारा प्रदान किया गया है, जिसका प्रारण्य है: 'हिन्दी भाषा की निपुणता एवं गौरव बढ़ाने के गुणों के कारण 'कवि मुवाकर' नामक उपाधि से अर्जित किया जा रहा है।' 'संस्कृत विद्या मान पत्रम्' अयोध्या की विद्वत् समिति समा द्वारा सम्बत् १३८५ कार्तिक शुद्ध पक्षमी के दिव प्रदान किया गया जिसका भाष विन्मन्त्रित है। संस्कृत विद्या में बोध्यता के कारण मनजता से सद्बिद्या श्रीर शास्त्राभ्यास एवं सम्मान वृद्धि के लिये 'साहित्याचार्य' केसरी की उपाधि से अर्जित करने में हम ममुदित होते हैं तथा सर्वशक्तिमान् परमेस्वर से प्रार्थना करते हैं कि इनके शास्त्राभ्यास श्रीर

आध्यात्मिक शक्ति में अतिशय वृद्धि होती रहे।” इस प्रकार ‘कविबर मुपाकर’ एवं ‘साहित्याचार्य केसरी’ नामक इनकी उपाधियाँ थीं। और भी उपाधियाँ मिली थीं पर अब वे भूली जा चुकी हैं।

“इन्होंने अपनी शक्तों से आधुनिक हिन्दी साहित्य के तीनों काष्ठ खेले थे पर हमारे साहित्य में जो-जो स्फाव आये उनमें वे अचल पत्थर का भौति खड़े रहे।”<sup>१</sup> पं० कृष्णचंद्र गुप्त के इस कथन की सत्यता ही रखाकर जी के व्यक्तित्व की महत्ता है। जैसे रखाकर जी रतिमार्तल काव्य के अंतिम कवि मान गये हैं। वास्तव में वे पूर्णतः हिन्दी क ह्रासिक कवि थे जिसका भार है प्रार्थना की बुद्धि है। पं० बन्धुलाल वाजपयी जी का निम्न कथन उनके चिरम में अक्षेपनीय है—

“रखाकर जी की मनोवृत्ति मध्य युग की-सी थी। वे मध्ययुग के ही आताशरण में रहते थे और अमेठी पढ़कर भी उन्हें आधुनिकता से कोई विशेष रसि न थी।”<sup>२</sup>

अब हम कह सकते हैं कि वे प्रार्थना के पक्षपात थे। उनकी प्रवृत्ति अंधविश्वास चिन्तन एवं प्रतिष्ठा की कामना में हीन थी। उनका रचना उद्देश्य भी पूर्णतः रगत मुग्ध ही था। वे ईश्वर की शक्ति की महत्ता मानने वाले भक्त थे। पर उनकी काव्य-रचना में भक्ति के साथ ही श्र गार्थिक भावना उभर चुकी थी। वास्तव में वे रति काष्ठ एवं आधुनिक काष्ठ के बीच की कड़ी हैं। उस मनम शाईयता की पुच्छर गूँज रही थी। रखाकर जी का हिन्दू जाति के गौरव का गप था। भारतवासियों को उन्होंने प्रभाव भी दिया है। पौराणिकता ने उन्हें मोह था। फिर भी रहन-सहन तथा बन भूया स रखाकर जी आधुनिक काष्ठ क नहीं वरन् सम्मर्नीय का के मध्ययुगीन व्यक्ति प्रग.त होते थे और रतिमार्तल कवियों का स्मरण दिखाने थे।

रखाकर जी कवि ही नहीं थे वरन् गम्भीर विशुद् भा थे। वे प्राचान साहित्य के पूरा ममय थे। उन्हें वास्तव में रखाकर कहा जा सकता है। उनकी विद्वत्ता पड़ोसी न थी। वे पंडित थे। उनमें जिज्ञासा थी और हमकी तुष्टि के गर्भरहित होकर सरसता से कर लेते थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनुगम रूप प्रदान कर तथा अपने व्यक्तित्व की गम्भीरता के आधार पर अरब नाम रखाकर का मार्पक कर दिया।

१ पं० कृष्णचंद्र गुप्त का इतिहास, पृष्ठ ८०।

२ हिन्दी साहित्य : बीनवी शताब्दी पृष्ठ २०।



युग तथा परम्पराएँ



रजाकर भी की भाविर्माणकाहीन परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन करने के लिए यह उचित होगा कि हम उन्हें आश्चर्यक घटों में विभाजित कर लें : राजनीति, समाज, धर्म तथा धर्म के प्रथम क्षेत्र हैं जिनकी भूमि पर पदार्थपर करते हुए मनुष्य को भागे पड़ना पड़ता है। अतः इन क्षेत्रों की तत्कासीन स्थिति उन व्यक्ति का निर्माण करने में बहुत कुछ कारण बनती हैं। इनके प्रति रिक्त व्यक्तिगत परिस्थितियों भी होती हैं जिनपर व्यक्ति की सफलता आश्रित रहती है। हम यहाँ इन परिस्थितियों पर एक सामान्य दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे।

### राजनैतिक परिस्थिति

१८ वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कम्पनी व्यापारिक से राजनैतिक संस्था बन गई। इसके उपरान्त पार्लियामेंट का नियंत्रण कम्पनी पर बढ़ता गया। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में धार्मिक स्वतंत्रता भी घोषित हो गई। किन्तु भारतीय अपनी पराधीनता का अनुभव करते हुए राजनैतिक अधिकारों की ओर विशेष सजग होते जा रहे थे। सार्दें मिक्रासे और राजा राममाहन राय के प्रयास से अमेजी सिंघरा की स्वीकृति हो गई थी जिससे भारतीय अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को समझते जा रहे थे। १९ वीं शताब्दी के मध्य तक गुजरात के एक बहुत-सी पैसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने भारतीयों को असन्तुष्ट किया। पंजाब और सिन्ध भी स्वाधीनता का अपहरण हुआ। म्यंसी की रानी को अपना उत्तराधिकारी गोद लेने की मनाही की गई। मिर्जिस मर्जिस की परी शाओ में भारतीयों के विरुद्ध अनुचित पक्षपात किया गया। भारतीय सैनिकों का बहाल बाहर भेजा गया आदि। यह सब निरंकुशता भारतीयों को चुस्पर करती गई। यातायात के साधनों का प्रचार हो जाने के कारण विचारों के प्रसार में भी सहायता मिली। रेल, तार, सड़कें, नहरें इत्यादि विचारों के प्रसार में बहुत कुछ सहायक हुए। इन्हीं कारणों से १८५७ का विद्रोह-विद्रोह हुआ। यह विद्रोह हिंदी-भाषी प्रांतों में प्रमुख रहा। भारतेंदु हरिश्चंद्र इन समय ७ वर्ष के बालक थे।

यद्यपि विद्रोह सफल नहीं हुआ तथापि उसके उत्तरस्वरूप कम्पनी का शासन चूगन: समाप्त हो गया। भारत का शासन-सूत्र पार्लियामेंट के साथ में पहुँच

गया। पहली पब्लिक स्कूल १८५८ ई. को महाराजा विक्टोरिया का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। इस घोषणापत्र से भारतीयों के हृदय में बहुत कुछ विश्वास उत्पन्न हो गया। उदारता, धार्मिक-सहिष्णुता के भाव इसमें विरोध थे। अन्ततः लगभग २ वर्ष तक देश में राजनैतिक अस्थिरता शरित रही। इस जैसे कुछ सहृदय कांग्रेसी शासन के घोष नी दिखवाते रहे और उन्हीं की प्रेरणा से कांग्रेस की की स्थापना हुई। अन्य बाह्यकारकों द्वारा जेना पुलिस कृपि श्लादि से सन्ध रकने वाले सुधार होते रहे।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कृपि सेना पुलिस और धार्मिक व्यवस्था संबंधी सुधार जार्ज कैनिंग के समय में हुए। इनके बाद जार्ज कार्ल के समय में नी कुछ हितकर सुधार हुए। सन् १८६४ ई. तथा १८६९ ई० में अन्ततः पं महावीरयस्य द्वितीय तथा रत्नाकर जी का जन्म हुआ। यह युग बहुत कुछ शक्ति पूर्व रहा फिर भी अनेक त्राहण भी थी जिसकी ओर इस जैसे भारत हितकरियों ने शासकों का ध्यान आकर्षित किया। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम अन्तर्गत के आरम्भ में जाह किरण बाबुसाह होकर आय। इनके समय में वैदिकशास्त्र का भी प्रचार हुआ। किरण प्रतिष्ठियावादी थे उन्होंने दिल्ली पर बार आपोक्षित कर विक्टोरिया की भारत की राजधानी घोषित किया और भारत को इम्पेरियल का एक उपविभक्त भाग। इससे भारत की पक्षी क्षिती जनता सरांका हो उठी। दूसर दिल्ली दरबार की शाह से किया गया। एक ओर उसका लर्वा तथा दूसरी ओर देश का दुर्मिच ? इसका कोई अन्धा प्रभाव नहीं पड़ा। भारत पर अनेक धार्मिक उत्तरदायित्व नी लाय दिए गए। भारतीयों और कांग्रेसों में सेन्-नायका बना दी गई। भारतीयों की राज इत्यादि रकने के लिए काउन्सिल आकरक कर दिए गए और भी अनेक प्रकार के प्रतिपक्ष भारतीयों पर लगा दिए गए। जिसमें भारतीयों की गणनाएँ विद्विहपूर्व ही उठीं। इस महोद्यम इन भाषणाओं को शरित करने का प्रयत्न करते रहते थे। तत्कालीन हिंदी पत्रों में उदाहरणाय 'भारत मित्र' तथा 'सार सुचामिनि' पत्रों में साक्षात्कारादी नीति तथा भारत पर जाये गए मुझ-संबंधी लक्ष्य पर आपेय हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र प्रकाशनाशय मित्र, राधाकृष्णदास प्रेमचन आदि की रचनाओं में हमें उस समय की परिस्थिति का आभास बहुत कुछ मिळता है। इसी समय बर्नार्डयूजर प्रेस ऐक्ट भी पास हुआ। जनता ने कल्पि उसका विरोध किया परंतु जार्ज किरण ने उसकी न सुनी। इस प्रकार देशवासियों के प्रति एक बपेया का भाव शासन की ओर स प्रक्य हो रहा था। इस युग में साहित्यिक रासमकि तथा देश-भक्ति को दो चिमिच

बन्धु समझते थे। कांग्रेसी के कुछ भुक्तार्यों का उनपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था और उसमें वे असंतुष्ट थे। परंतु देशभक्ति और राजभक्ति दोनों ही में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने देशी नैरेतों तथा जमींदारों के ऊपर आपेन किया और उन्हें दृग्-भक्ति की ओर प्रेरित किया।

सार्द्ध सिद्ध के पश्चात् साह रिपन भारत में आये, इनका शासन साह सिग्म की अध्यक्षता अधिक लोकप्रिय और उदार रहा। इन्होंने स्थानीय स्वायत्त शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारतीय उदारी उदारता से प्रभावित हुए और भारतेंदु हरिश्चंद्र न उनकी प्रशंसा में अटक सिला। इसपर विरुद्ध विरोध में भारतीयों ने पद मॉग की थी कि भारतीय मजिस्ट्रेट मूसापियन और अमेरिकन अपराधियों के मुकद्दमे कर सकें। इसमें सफलता नहीं मिली। भारतीयों को इसमें घोर दुःखा और उनमें स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई। किंतु फिर भी कांग्रेस की स्थापना से पूर्व बहुत कुछ उदार शासन बेरा में आ गया था। रिपन का युग गवर्नमेंटों में स्वर्ण-युग माना जाता है। १८८४ ई में इच्छित साहशासन हुए और इन्हीं के समय में कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस की स्थापना से पूर्व भी स्पान-स्पान पर राष्ट्रीय समाजों की स्थापना होती रही थी। बंगाल में मिथिया इंडियन एसोसियेशन, मद्रास में हिंदू यान्त्र प्मोसियेशन तथा बार् में ईस्ट इंडिया एसोसियेशन, मद्रास में हिंदू तथा महाराष्ट्र में महाजन समा, बम्बई में बाम्बे प्रैम्बिहेंसी एसोसियेशन इत्यादि समाजों के द्वारा देश के बड़े-बड़े विद्वान् तथा कर्मकृता निरंतर अपने विचारों को व्यक्त करते रहे। १८७१ ई० में बंगाल में 'इंडिया एसोसियेशन' की स्थापना हुई। मिथिल सर्विस से अचकल्य प्राप्त होने पर सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने सन्तुष्ट भारतवर्ष की एक संगठित संस्था स्थापित करने का विचार किया। प्रतिबोधी परीक्षाओं के लिए उस समय इंग्लैंड जाना पड़ता था और उनके लिए १२ रूप की धातु निमित्त कर ही गई थी। भारतीयों के लिए पद दोनों बातें कठिन पड़नी थी इसके लिए धारास्तन करने की योजना भी सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने ही। इस महोत्सव के प्रयत्न से १८८५ में बम्बई में इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन का आयोजन हुआ। इस प्रकार देश की राजनैतिक परिस्थिति के अतस्वरूप राष्ट्रीय कायकर्म का सूत्रागत हुआ। कांग्रेसी की प्रतिबोधी नीति तथा विरोधी कानून के अस्वरूप हम आंतरिक बेतना का विराम हुआ और समा-संस्थाओं के रूप में हम भारत की उभित स्थिति हुई। भारतेंदु युग तथा हिन्दोी युग के अन्तिम में भी हम प्रकार की सन्तुष्ट राजनैतिक परिस्थितियों की अस्तक राजना के साथ मिलती है। राज-



मन्त्रि धीर देश भक्ति दोनों का प्रवाह समानांतर प्रवाहा विचार्य पकता है । युग की सर्वांगीण उन्नति वैज्ञानिक आविष्कार इत्यादि की प्रेरणा से साहित्यिक राष्ट्रमन्त्रि के भाव से व्यक्त रहते थे । परंतु परिस्थितियों तथा परार्थिता के प्रभाव से उनमें देशमन्त्रि की भावना कायम होती थी जिसके प्रकटस्वरूप वह देशमन्त्रि का राग गाते विचार्य पकते थे । इस समय के कवियों में राष्ट्रीय जागृति के भाव विशेष देखे जा सकते हैं । मत्तल्लु, बालकृष्ण-मड श्रीर पाठक आदि पत्रकारों और लेखकों में इस प्रकार के विचार प्रचुरता के साथ मिलते हैं । देश की सारी विचार-धारा राष्ट्रमन्त्रि के साथ मिलकर चल रही थी और इस युग में निर्मित साहित्य उससे पूर्णतया प्रभावित है । अतः हमारे आत्मोच्च कवि श्री बगदायदास 'रत्नाकर' भी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति से पर्याप्त प्रभावित थे । यदि वे पूर्णरूपेण राष्ट्रीय कवि न थे तो वह भी कहना अनुचित होगा कि उनमें राष्ट्रीयता का प्रभाव था ।

### आर्थिक परिस्थिति

मनुष्य जीवन के तीन प्रमुख आर्थिक स्तर माने गए हैं । धर्म, धर्म और धर्म । क्रमानुसार धर्म का स्थान इनमें द्वितीय है । अतएव उद्योग महत्त्व उसमें सरावठा से समझा जा सकता है । आर्थिक जीवन की सकलता के लिए धर्मोपार्जन नितांत आवश्यक है । सामुहिक धर्म से देश की उन्नति उसकी समृद्धि पर निर्भर करती है । संस्कृति और कला का पूर्ण विकास सर्वत्र समृद्ध आठावरण में ही हुआ है । भारत युग का सारा धर्म तत्कालीन धर्म से ही प्रेरणा पाता था । युगक अंत में भी देश की समृद्धि के अन्तःसरो पर ही भेद कायों की रचना हो सकी और अतएव युग तो निम्न बस्तुओं के द्वारा कला का युग ही कहा गया है । भारत की आर्थिक विपन्नताओं ने ही धर्म और कला की ओर से अनसाधारण को विमुक्त कर दिया है । अतः यदि ऐसा कहे कि देश की साहित्यिक तथा कलात्मक समृद्धि के मूल में धर्म ही प्रधान है तो अनुचित न होगा ।

रत्नाकर जी के आध्यात्मिक काल की आर्थिक परिस्थिति बहुत कुछ धर्मियों की व्यापारिक नीति पर आधारित थी । डा० बाल के शब्दों में—

“धर्मोपार्जन राज्य अस्तुतः व्यापारिक धर्म का राज्य था और इसके प्रकटस्वरूप इस युग में वैराग्य और वैराग्य-धर्म का प्रमुख स्वरूपित हो गया, जिससे कवि साहित्य में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ ।”

१३ वीं शती का उत्तरार्ध परिचम में औद्योगिक क्रांति का युग था। इस युग में विदेशी एवं व्यापारिक वृत्तिवाले श्रेणियों का प्रमुख बहुत कुछ स्थापित हो गया था। अब भारतवर्ष का शासन ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के हाथ से ईंग्लैंड के शासकों के हाथ में आया। अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुसार शत्रुओं ने भारतवर्ष का युद्ध के इच्छासे में चँसाकर इससे बार-बार धन वसूल करने आरम्भ कर दिए। धर्म और सिक्ख युद्धों के फलस्वरूप, जो क्रमशः सन् १८४३ ई० और ८५९ ई० में हुए, भारतवर्ष पर बड़े ही प्रतिबुद्ध आर्थिक प्रभाव पड़े। धर्म के उपरान्त रेशम तार, सब्जियों, नहरों इत्यादि का निर्यात हो जाने के कारण छोटे व्यापारियों का व्यवसाय मंदा पड़ गया और बड़े-बड़े व्यापारी समुदाय होने लगे। १८५७ के सिपाही-विद्रोह में भारतवर्ष की विशेष हानि हुई। आर्थिक दृष्टि से सम्पत्ति बहुत कुछ क्षिण-मिथ हो गई। सामंतवर्ग की समृद्धि पतनोन्मुख हुई। मद्रास के सिपू से बड़े-बड़े शत्रु होने लगे। पिछाड़ के बाद सैनिकों की आजीविका भी खिन गई। देश में अफसारी फैल गई। ईस्ट इंडिया कम्पनी का क्रिटिकल परिकल्पित का जो समर्थता हुआ उसका भी आर्थिक अन्तर्गत भारतवर्ष पर ही पड़ा। भारत को बड़े-बड़े शत्रु चुकाने पर त्रिभुजसे उसकी स्थिति और भी बिगड़ गई। सन् १८५८ में 'वेयर गवर्नमेंट इंडिया ऐक्ट' पास हुआ। इसके अनुसार भारत का धन उसकी सीमाओं के बाहर नहीं व्यय होना चाहिये था। परन्तु धर्म और अफगानिस्तान के युद्धों में इस पैर का पालन नहीं दिया गया और भारत को ही इन युद्धों का धन-व्यय बहन करना पड़ा। लार्ड कैनिंग तथा लार्डस के गवर्नरी काल में इण्डि-मुन्डर तथा अन्तर-व्ययन सीमा के नीति-निर्धारण ब्रिज अनहित के कार्य हुए, परन्तु १८६९ में अर्बन्ना में आ दुर्भिक्ष पड़ा उसने जनताको पीड़ित कर दिया। १८६७ में अर्बन्ना-निर्णय युद्ध तथा महाभारत का प्रकाश साध-साध हुआ। १८६९ में फिर दुर्भिक्ष पड़ा, यह साह मया का समय था। इन्डो-न मीनों का विद्रोहीकरण किया और उन्हें अलग-अलग काय प्रदान किए। अन्तर्गत कमी होने के कारण मीनों पर नए कर लगे। कृषकों से उनकी पैदावार का भागा हिस्सा या उसमें भी अधिक हिस्सा लिया जाने लगा। उनकी दशा बिगड़ गई। १८६९ में स्वयं नहर का निर्माण हुआ। वारोप का व्यापार बढ़ा और भारत का व्यापार और भी मंदा पड़ गया। निर्यात इत्यादि के सिपू अन्तर्गत कर लगाए गए। अन्तर्गत के निर्यात की नीति भी बदल गई। गौरी का अन्तर्गत निर्यात करने के बाद इसको का अन्तर्गत निर्यात किया जाने लगा। अन्तः इसमें पुर्बि हो गई। १८७७ में पगाह में दुर्भिक्ष पड़ा। लार्ड बार्थोप के, लार्डस तथा अन्तर्गत दुर्भिक्षों को संभासन में अन्तर्गत

नहीं हुए। इन गवर्नरों की प्रतिक्रियावादी नीति से इनकी साम्राज्यवादिता स्पष्ट उभरती होती थी और जनता इस साम्राज्यवादिता को खरितार्थ करने का साधन मात्र बन रही थी। १८७७ और ७८ में फिर बुर्जिज पक्षा, इस प्रकार जनता व्याकुल हो उठी। १८७७ के विप्लवी दूरवार में देरी बरेठों ने अपनी समृद्धि का आश्चर्य प्रदर्शित किया। १८७८ में अफगान युद्ध का व्यवहार फिर भारतवर्ष के मत्ते आया। १८८० में भी यही स्थिति फिर उत्पन्न हुई। कार्ड रिपन के समय में (१८८० ई०) कृषि-सुधार तथा पुर्नों की शक्ति के कारण देश में कुछ शक्ति उत्पन्न हुई। यह इस्तमरारी-बंशोवस्त भी करना चाहते थे परन्तु उसकी स्वीकृति उन्हें नहीं मिली।

अंग्रेजों की आर्थिक नीति के फलस्वरूप कृषि और उद्योग-धंध बढ़ ही चुके थे ऊपर से बुर्जिजों की मार भी। बुर्जिजों का भीषण परिचय इतना अनादृष्टि के कारण था होता था अितना धंधों की आर्थिक नीति से।

संक्षेपतः आर्थिक दृष्टि से यह युग विपत्तियों का युग था। अंग्रेजों की शोषण नीति उनकी व्यवसाय-संबंधी स्वार्थ-भावना तथा उनका शासन-संबंधी साम्राज्यवादी दृष्टिकोण जनता के लिए सुख समृद्धि की सिद्धि न कर सका। कृषि-संबंधी कार्यक्रमों के प्रति वे शासक सदैव उपस्थित रहे। किन्तु इस नीति के कारण सदैव अक्षयप्रस्त रहे। इसका अधिक्यत भाग अंग्रेजों की व्यवसाय सिद्धि पर व्यय होता था। इसी तरह शिक्षा का बहुरेश बल्लरों में कम करने की योग्यता प्राप्त करवा था। वैज्ञानिक आधिपत्य तथा उनका उपयोग भी अंग्रेजों के अपनी इच्छासिद्धि के लिए भारतवर्ष में किया। अंग्रेजों की शोषण-नीति का शिक्षण भारतवर्ष उस समय चारों ओर निराशा के ही वर्णन कर रहा था। जनता कुली भी और सामन्तवर्गी वर्ग के लोग भी अंग्रेजों की शोषण नीति के मात्तम थे, वसी जनता के उपार्जित जन पर आश्रय मंगा रहे थे। भारतेंदु की वे अपने युग की कैदारी का चित्रण अपने वाक्यों में अक्षयतापूर्ण किया है तथा बुर्जिज आदि का चित्रण भी यही ही सक्षयतापूर्ण किया है।—

तीन मुक्ताव तेरु आवैं निख निज विपदा रोइ सुनावैं ।  
 झौंसी फूरी भय न फेर कबों सखि मात्रन नहि अंग्रेज ॥  
 संघत जनइस मौ सतरपंथ पड़ा हिंदू में महा अक्षय ।  
 घर-घर फरके होने लागे, दर-दर प्राणी फिरें वेदाल ॥

### सामाजिक परिस्थिति

१४ वीं शताब्दी ईसवी का पूर्वार्ध हिन्दू-समाज के लिए अक्षय प्रस्त था। मुसलमानों के शासन-काल में उन्हें अत्याचार तथा दासता के युग मोगल

एसे थे। अंग्रेजों ने अपनी शोषण नीति द्वारा उन्हें और भी असहाय बना दिया था। अनेक प्रकार के अंध-विश्वास कृत्रिम तथा कृत्रिमताओं को जोड़ कर ही और उनका भित्ति पतन हो रहा था। उनके अंध-विश्वास के अन्त में अंग्रेजों की अनेक योजनाएँ थीं। इनको अपने अन्तर्गत के सिद्धांत तथा उपद्रवों को विचार होकर ग्रहण करना पड़ता था और इस प्रकार उनका रहन-सहन, आचार-व्यवहार, वेतन-पूजा इत्यादि एक मिश्रित रूप ग्रहण कर रहे थे। बहुत से सिद्धांत उन्हें अनिष्टकारीपूर्ण भी ग्रहण करने पड़ते थे और इस प्रकार उनकी स्थिति विचारपारा लुप्त हो रही थी।

अंग्रेजों के आगमन के कुछ ही समय बाद देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार आरम्भ हुआ। मेदाह न इस विचार प्रसार प्रवृत्ति किया। राजा राममोहनराय अंग्रेजी शिक्षा के बहुत बड़े समर्थक तथा प्रचारक थे। इस प्रकार इस विद्वान् मारा के माध्यम द्वारा भारतवर्षीयों के अन्तर्गत अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार करने लगे थे। जो व्यक्ति कितना ही अधिक उस संस्कृति तथा सभ्यता को ग्रहण करता था वह उतना ही आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से अच्छा माना जाता था। विभिन्न स्थितियों की परिस्थितियों में अनेक होने के लिए अपनी संस्कृति तथा सभ्यता को अधिक से अधिक आगमन आकर्षक हो गया था। जहाँ तक स्थितियों में अनेक होने का सम्बन्ध है अंग्रेजी शिक्षा ने अत्यन्त आकर्षकियों का किसी इतना दित किया। किन्तु अंग्रेजी भाषा-शिक्षा अंग्रेजों को शिक्षा करने की प्रवृत्ति को शिक्षा के कारण अनेक हुई उसे अंग्रेजी नहीं कहा जा सकता। उसके अन्तर्गत समाज में अंग्रेजी-शिक्षा की दृष्टि हुई। राजा राममोहनराय के प्रथम में अंग्रेजी-शिक्षा का अन्वय तथा शिक्षा विचार-सम्बन्धी अन्तर्गत का निम्न आचार-व्यवहार के दितकर पत्र पत्र जा सकते हैं। किन्तु यह अन्वय इसमें अधिक नहीं था कितना अदितकर प्रभाव। डॉ० वाणेश्वर ने उचित ही लिखा है :—

‘बद टिक है कि इन समय सामाजिक आर आर्थिक क्षेत्र में न ता परिचय से अनेक अनेकियों का अन्वय था और न अनेक स्थितियों का अन्वय था जो भारतीयता के अन्तर्गत परिचय की अन्वय-व्यवस्था अनेक अन्वय के रूप में थे। किन्तु समाज में अनेक अनेक स्थितियों की अन्वयता में अनेक अनेक स्थिति की ही अन्वयता नहीं रही।’

इस कथिबन्ध को महाराजनी विख्यारिषा द्वारा प्रचारित धार्मिक सहिष्णुता के घोषणा-पत्र संघर्ष भी अधिक बल प्राप्त हुआ। पलायन के साधनों का निर्माण हो जाने के कारण बिदेही सम्पर्क भी परावर अपना प्रभाव भारतीयों पर डालता रहा। बिदेही ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क ने कथपि सांस्कृतिक दृष्टि से भारत को हाबि पहुँचाया, तथापि भारतीयों के हृदय में एक मर्दान्ता चेतना भी जागृत कर दी। वे स्वतंत्रता के मूल्य को पहचान सके और इसी के आधार पर १८८५ ई० में काँग्रेस की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने अपनी प्रतिबिधावादी नीति के अन्तस्करण भारतीय समाज के विषयों में इच्छासे करार शुरू कर दिया था। हिन्दू और मुसलमान बन्धे इच्छासे स भसगुच थ। मुसलमानों में धार्मिक उत्साह बहुत था और वे अपने धर्म में किसी प्रकार का इच्छासे स्वीकार नहीं करार चाहते थे। साथ ही साथ अंग्रेजों ने उनका राज् कीबा या किन्से वे अंग्रेजों से प्रसन्न नहीं थे। इन्होंने अंग्रेजों के राज्य को दारु हराय घोषित किया परन्तु अंग्रेजों ने अपनी कुम्भारिषि से अपने को दारु इच्छासे घोषित किया। वे बरावर हिन्दू-मुसलमान को आपस में लड़ाने का प्रयत्न करते थे। वही उनके शासन का मूल मंत्र था। मुस्लिम युग में हिन्दू-मुसलमान सम्बन्ध बहुत कुछ सौदाहपूर्व हो गया था। किन्तु अंग्रेजों ने धरनी कुम्भारिषि से उनकी आपस में लड़ा दिया। हिन्दू एक कुम्भारिषि से पर दक्षिण हो रहे थे। मुसलमानों के समक्ष में ही उनके समक्ष में किलने कीप-बिरवास हुआ कुके थे अन् अंग्रेजों के समक्ष में भी अनेक प्रकार की सामाजिक कुम्भारिषियों को बनाए रखने का प्रयत्न हुआ। हिन्दू धर्म-संस्था की हरा कुम्भारिषि का मुम्भारिषि रखने का प्रयत्न अंग्रेजों द्वारा हुआ फिर भी कुम्भारिषि तथा धार्मिक आगुम्भारिषि का कारण हिन्दूवर्ग ने अपनी कुम्भारिषियों को पहचान लिया था। अनेक कुम्भारिषियों अन्धोक्त्य आधारित हो चुके थ। भारतीय अपने गौरव के प्रति सजग थे और अन्य राज्यों के नागरिकों के समक्ष अपना स्थान ब्राह्मण खरो थे। शासकों की राजकीय कुम्भारिषि के प्रति हरा लोगों की आलोचनात्मक दृष्टि उद्घाटित हुई थी। तथापि यह आलोचना या तो परोक्ष होती थी या केवल नम्र विवेक के रूप में। अपने संस्कारों के अनुसार हिन्दू जनता राजा को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानती थी इसलिए राजकीय की वह अपना प्रयत्न करती थी।

अंग्रेजों ने उपनिवेश-स्थापना के लिए वही कुम्भारिषि से काम लिया। इन्होंने देश के समक्ष कुम्भारिषियों का धार्मिक सदायता केर हरा पर कुम्भारिषि बना लिया। वने-वने राजे-महाराजे अंग्रेजों के राज्य के इच्छासे में

जैम गण और उन्हें उनका आश्रित होना पड़ा। अंग्रेजों ने इसका बदला उनके हठकों में सैनिक नियंत्रण स्थापित कर दिया। मित्रता के नाते उन्हें यह शान्ति प्राप्त हुई। इसके बाद अंग्रेजी राज्य में बशिकू बग अंग्रेजी सांस्कृतिक जीवन का आश्रयदाता बना। अठारह साहित्य में इस बग की रुचि, आदर्श एवं आकांक्षाओं का प्रकीर्णन होने लगा। १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का साहित्य अधिकांश में इसी बशिकू बगों से संबंध रखता है।<sup>१</sup>

अंग्रेजी के जन्मदाता अंग्रेज ही थे जर्मनीदारी का पाश्चात्य संस्कृति तथा मम्यता का प्रदत्त करना स्वामात्रिक ही था। उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने का यही एक उपाय था। किमान् तो अंग्रेजों की शोषण-नीति के कारण सब प्रकार से दृष्टित थे ही। उनकी संस्कृति का विकास ता असम्भव था। परंतु इस दुःख के कलत्ररूप जनमाधारण को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो गया। यालावात के साधनों तथा शिक्षा ने देश में एक स्थापित किया। जनमाधारण में समानता का भाव तथा रुढ़ियों के प्रति विद्रोह भावना उत्पन्न हुई। साहित्य में इस प्रकार के विचार तत्कालीन कवियों तथा साहित्यकारों में प्रचुरता के साथ व्यक्त किए हैं।<sup>२</sup>

इसमें संदेह नहीं कि पाश्चात्य प्रभाव ने भारतीयों को भौतिकवादी बना दिया था। बायाइन्बर तथा पाश्चात्य आचार-विचारों से उत्पन्न कुरीतियों का समाप्त में धर पर गई थी। मद्यपान इत्यादि पाश्चात्य सामाजिक सिद्धान्त भंग ही हो भारतीय समाज में तो व कुरीति ही बढ़ जायेगी। इस प्रकार के दुःखों की ओर भारतीय जनता भ्रमण हो गई थी और इसके उत्पादन का प्रयत्न होने लगा था। तात्पर्य यह है कि अवन समाज की रुढ़िगत पुराणों और पाश्चात्य देश से आई हुई आधुनिक पुराणों की ओर उम युग का साहित्यकार मन्त था और उनके मुपार के लिए प्रयत्नरत था।

समाज-निर्माण में शिक्षा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस युग में अरबी, फारसी तथा बहू शिक्षा ही प्रचलन रूप से प्रचलित थी। मरुत का

१ आधुनिक दिखी साहित्य का इतिहास—टा० बाप्येय (१०७५)।

२ भारतेंदु हरिश्चंद्र हर दुःख जन का दुःख बचावे,

अवनी गिनती आन पचावे।

मीठर लक्ष न मूला लेनी,

बना मंगि लखन नदि दगरेवी ॥

बुग कब कब बंठ चुका था। तब शिक्षा का आदर्श बार्मिक मात्र था, परंतु वह अब भारतीयक हुआ कि शिक्षा के द्वारा सामान्य ज्ञान की वृद्धि भी जाए। अतः शिक्षा-विभाग में परिवर्तन हुए। अंग्रेजों ने बर्धपि पठने परम प्रकार के लिए ही शिक्षा का उपयोग किया था किंतु अबो चङ्कर उनको शासन में अनुविधा होने लगी और उनको अपने वृत्तों में कार्य करने के लिए भारतीयों की अंग्रेजी शिक्षा देनी पड़ी। यह शिक्षा भारतीयों को मानसिक दासता से उन्मुक्त करने वाली थी। राजा राममोहन राय इत्यादि देश-हितैषियों ने बर्धपि अंग्रेजी-शिक्षा की प्रोत्साहन दिया, किंतु उनका उद्देश्य देशवासियों को सुशिक्षित तथा उदार बनाना था। वे उन्हें दासता नहीं सिखाना चाहते थे किंतु दुर्भाग्य से परिणाम उल्टा हुआ।

कार्ड हार्डि व के १८४४ ई० के घोषणापत्र द्वारा सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेजी आवश्यक हो गई। बर्धपि उन्होंने देशी भाषाओं की शिक्षा का भी काफी ध्यान तथा प्रबंध किया परंतु देशी भाषाओं की उन्नति हींसीलिए नहीं हुई क्योंकि एक तो वे सरकारी नौकरियों के लिए अनुपयोगी थीं और दूसरे उनमें अन्य शिक्षा-संबंधी पुस्तकें नहीं थीं। बर्धपि प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा-सपथी स्मृत शीघ्र गने परंतु उनके द्वारा भी पाश्चात्य विचारों का प्रसार किया जा रहा था। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतवर्ष में विद्येय विद्यालयों की स्थापना हुई। अब शिक्षा का प्रसार हुआ फिर भी शिक्षा का आदर्श भारतीय वातावरण के अनुकूल न बन सका। विषयों के अतिरिक्त सम्पूर्ण व्यवसाय क्षिप्र-मिश्र हो गये। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय अपने पूर्व गौरव की भूलने लगे। धर्म के प्रति इनका विधास निरपित पड़ गया। राजा राममोहन राय जैसे व्यक्ति धर्म का एक सुसंस्कृतिक रूप समाज में चलाना चाहते थे। किंतु वे अपने इस प्रयास में सफल न हो सके। अब-शिक्षित भारतीय अपने को हीन समझने लगे और उसमें एक हीनता का भाव भर कर गया। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने समाज को विधेयतया बर्धपि गिरावा बर्धपि राष्ट्रीय चेतना धर्मियों का उच्छेद वैज्ञानिक शिक्षा आदि सत्यक भी इस पाश्चात्य शिक्षा के परिणाम थे। किंतु इस शिक्षा ने अधिकांशतः इन्में अज्ञानता की और ही बनाया। युग के साहित्यकारों ने अपने सग्रहित में ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिनके द्वारा प्राचीन गौरव का ज्ञान तथा पाश्चात्य शिक्षा का सत्य प्रमाण एकत्र हो सके और इसके द्वारा जनता को पुनर्निर्मातृ का अवसर मिल सके। वास्तव में इस युग में समाज एक नवीन रूप ग्रहण करने का उपक्रम कर रहा था जिसमें सर्वोत्तम कर्तावृत्ति और व्यवस्था थी। यह संकान्ति का युग था और देश युग में अन्ध

वस्था का होना स्वाभाविक ही है। फिर भी देश में नवजागरण के लक्षण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगे थे।

### धार्मिक परिस्थितियाँ

१२ वीं शताब्दी में हिन्दू-समाज में प्रधानतया धर्म की ही प्रधानता रही, यद्यपि परम्परागत ब्राह्मण-धर्म केवल स्विबार्दी होकर रह गया था। बाबाइम्बर बंद गया था और धर्म के प्रांतिरिक्त तथ्यों को प्रहय करने की प्रवृत्ति कम हो गई थी। बड़े-बड़े धार्मिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध मन्दिरों में कर्मकांड तथा वैभव प्रदर्शन की ओर झिझना ध्यान दिया जाने लगा था उतना सांत्विक उपासना की ओर नहीं। पुजारियों और पंडों में गुणधर्म का नाश जापूत हो गया था और बड़ बित्ताम और वैभव के दाय बनते जाते थे। सामाजिक दृष्टि से धर्म कबल एकाग्र बल-व्यवस्था ज्ञान-दान के निष्पाय सिद्धांतों में रुत रह गया था। समुद्र-यात्रा और विदेश-गमन सामाजिक दृष्टि से निन्द्य ही रहा और इमतिष् दिन्दुओं की दृष्टि में अपराध बन जा सकी। वे कृपमहक बन रहे मर्त-प्रथा समाज में प्रचलित थी। मुसलमानों के प्रभाव के कारण भी हिन्दू धर्म को बहुत कुछ स्विबार्दिता प्रहय करनी पड़ी थी। जैसे-तैसे अपने धर्म-व्यवस्था सिद्धांतों का धुक्-धिप कर पाठन कर जाने में ही हिन्दू धर्म की रक्षा समझने लगे। संवेरतः इस समय का धर्म बहुत कुछ स्विबार्दी तथा लकीण बन गया था।

अंग्रेजों के धान के साथ-साथ जहाँ भारतीयों में राष्ट्रीय, सामाजिक तथा वैदिक जापूति उन्नत हुई, वहाँ धर्म के बालनिक स्वरूप की ओर भी उनकी दृष्टि गई। इसाईयों व दिन्दुओं का धन धर्म में स्विपित करने का प्रयत्न किया, इसकी प्रतिक्रिया हुई और दृष्टिगत जनता का धर्म-परिक्लत से बचाने के लिए राजा राममोहन राय जैसे व्यक्तियों ने समाज में सुधार करने आरम्भ किए। उन्होंने मर् १८२० ई० में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उनके उपरान्त कैलाचरैय मन् ने 'मदर मीरज वेक्ट' के द्वारा अन्तःजातीय विवाह की स्वीकृति कराई। मन् महोदय ने बाल-विवाह का विरोध कराने का प्रयत्न किया किन्तु जूँकि उन्हीं कम्पा का ही विवाह बाल्यावस्था में हुआ इस कारण ब्रह्मसमाजियों में अन्तर्ग्र उन्नत हो गया और 'नापारण ब्रह्मसमाज' के नाम से प्रथम समाज की बृहत् शान्ति स्थापित हुई। जार्जमोहन पन्सु इसके नेता थे। यह मन् भारत में प्रचारित हुई। उन्पर जून में राजा र महोदय के नेतृत्व में पापवा समाज के नाम से दूसरी प्रथम का धीराकन आरम्भ हुआ। १८०५ ई०



में आर्य-समाज की भी स्थापना हुई। इस संस्था ने वैदिक संस्कृति की पुनः स्थापना और वेदों की अथौद्येयता सिद्ध करने का प्रयत्न आरम्भ किया। साथ ही समाज-सुधार के प्रयत्न भी आरम्भ हुए। मूर्ति-पूजा तथा अक्षतारवाद के पक्ष में ये लोग नहीं थे। बहू विवाह इत्यादि को भी समाज के इतने का प्रयत्न हुआ। अभी इसमें भी दो धूल हो गए। एक तो गुरुकुल पथी, जो अत्यन्त सवा पारमिक धर्मों के लिए वेद को प्रमाय मानते थे दूसरे अश्वेतपथी, जो परमार्थ आदर्श महत्त्व काया आदते थे। स्वामी अज्ञानद तथा साक्षा आनन्द-राव अमरा: दोनों पंथों के प्रवर्तक थे। अज्ञानद जी ने स्वान-स्थापन पर गुरुकुलों की स्थापना की।

सन् १८७३ ई० में श्रीमती ऐनीबेसेंट ने भारतवर्ष में यियोसोफी का आदर्श प्रकट करके अपनी में यियोसोफिकल काउन्सिल की स्थापना की। इसमें सब धर्म-समन्वय की माकवा थी और 'असुखैव कुमुन्यकम्' का संदेश स्वीकृत था। पाश्चात्य संस्कृति के अन्तर् पूर्व संस्कृति की इसमें प्रभावता थी। इस प्रकार इस सगमवाप में भारतीय अन्वयवाद का महत्त्व विशेष रहा और भारत इसका केंद्र बन गया। विदेशों के अनेक विद्वानों ने यहाँ आकर इसके प्रचार के लिए कार्य किया। बंगाल में श्री रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व और पश्चिम दोनों में ही अन्वयवाद का संदेश सुनाया। हम प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य सभ्यता यद्यपि अपनी पूर्व शक्ति से देश में प्रचलित हो रही थी फिर भी स्वामिमात्रों और दूरदर्शियों भारतवर्ष अपनी प्राचीन संस्कृति का सुधार करके अपने पूर्व गरिब को अज्ञान बचाए रखना चाहते थे। आर्य समाज महा समाज आदि के प्रतिक्रिया स्वरूप सन् १८८८ में 'भारत धर्म महामंडल' की स्थापना आर्य-धर्म को सुसंगठित करने के उद्देश्य से पं डीबहादुर जी ने की। पं मदनमोहन मालवीय तथा माधव प्रसाद जी मित्र इसके सदस्य थे।

हम पारमिक धर्म के युग में आर्यधर्म-प्रधान पवित्र धर्मों में धर्म के उत्थान के लिए प्रयास होना स्वाभाविक ही था। अंगी महाराज कम-समा की स्थापना इसी उद्देश्य से हुई। इसके सपोषक तथा फोयाक्य भारतवर्ष की विपुल हुए। सन् १८७३ ई० में भारतवर्ष की ने 'अन्वय और वैष्णव' की पक्की स्थापना की। भारतवर्ष की वे वैष्णव धर्म-संबंधी कई खेप भी लिखे और वैष्णव धर्म के उत्थान के लिए प्रयास भी किया। भारतवर्ष की अर्थव्यवस्था के सुगम स्वरूप के उत्थान के लिए प्रयास भी किया। भारतवर्ष की अर्थव्यवस्था के सुगम स्वरूप के उत्थान के लिए प्रयास भी किया।

इस युग के साहित्यकारों ने अपने युग की परिस्थितियों का बहुत कुछ यथा चित्रण किया है, जिसका धार्मिक लोकमेवा अप्यात्मवाद धीरे समाज सुधार है। उनके साहित्य में धार्मिक प्रवृत्ति का संदेह है। भारतेन्दु जी पं० मन्नाथनारायण मिश्र और पं० अम्बिकादत्त व्यास के बीच सुधारवादी तथा परम्परागत पौराणिक धर्म को लेकर वाद-विवाद भी हुआ। फलतः धार्मिक साहित्य-गोष्ठी का निमाल हुआ। इयानन्द जी के 'संन्यास प्रकाश' और 'बदौंग प्रकाश' की धार्मिक प्रतिक्रिया में भी अम्बिकादत्त व्यास जी ने जब्तार भीमानी इयानन्द पाण्ड-बिहम्बन आदि लिखे। राधाकृष्ण दास जी ने धर्मशास्त्र नाटक लिखा जिसमें धर्म धर्मों के समक्ष वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

रघुनाथ जी गौड़िय माधव सम्प्रदाय के मद्रस्य के तथा वैष्णव धर्म की मान्यताओं के समर्थक थे। भारतेन्दु की वैष्णवता का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा था।

### साहित्यिक परिस्थिति

सन् १८५० ई० से १९०० ई० तक का समय भारतेन्दु युग और उसकी प्रथमि के रूप में प्रकृत किया जा सकता है। भारतेन्दु का रचना-काल सन् १८९० और सन् १८८९ ई० तक रहा। १८९० से पहले एक ऐसा युग रहा जो कि बहुत कुछ प्राचीनता का पीयक था। बिम्ब-हाली तथा भावा की दृष्टि में साहित्य क्षेत्र में बहुत कुछ पुरातनवादिता विद्यमान थी। काव्य रचना ही प्रमुख थी। गद्य की ओर बिरय ध्यान नहीं दिया गया। भारतेन्दु युग में साहित्य की नवीन दृष्टि उद्घाटित हुई, युग प्रवृत्ति के कारण जीवन के विभिन्न पक्षों में जाति हो रही थी। कला साहित्य-क्षेत्र में भी नवीन बिम्ब नवीन विचारपारा नवीन रीति तथा भावा प्रदण की जा रही थी। साहित्यकार इस की सफलतापूर्वी उन्नति करना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने कला प्रसार की साहित्य-जीवियों को प्रदण किया। फलस्वरूप आधुनिक काल में जो परिवर्तन हुए उनका सुरुवात इसी युग में हुआ वह निम्नलिखित रूप में कला जा सकता है। दो-सात के शब्दों में—

द्विती साहित्य का आधुनिक नाम पिछले दौर परिवर्तन का युग है। हमारा साहित्य के इतिहास में क्या एक ही युग न था जिसमें हमने सुरुवाती विकास और हमनी प्रमुख प्रतिभा का परिचय दिया है। इस काल में प्रत्येक पिछले का विकास और प्रत्येक पक्ष में परिवर्तन हमनी शक्तिता में हुए कि हमने साहित्यिक जाति का युग कर सकते हैं। इस काल की प्रमुख विशेषता साहित्य

में आर्य-समाज की भी स्थापना हुई। इस संस्था के वैदिक संस्कृति की पुनः स्थापना और केदों की असीमपैयता सिद्ध करने का प्रयत्न आरम्भ किया। साथ ही समाज-सुधार के प्रयत्न भी आरम्भ हुए। मूर्ति-पूजा तथा अन्तार्याय के एक में ये लोग नहीं थे। बहु विवाह इत्यादि की भी समाज से हटने का प्रयत्न हुआ। आर्य इसमें भी दो बल हो गए। एक तो गुरुकुल पर्यी की प्रवृत्ति तथा धार्मिक कृत्यों के लिए वेदों के प्रचार मानते थे दूसरे कर्मसंबंधी, जो पाश्चात्य आदर्श प्रचार करना चाहते थे। स्वामी अज्ञानत्व तथा ज्ञाना का अंतर-राज अज्ञान। दोनों पर्यी के प्रवर्तक थे। अज्ञानत्व जो ने स्थान-स्थापन पर गुरुकुलों की स्थापना की।

सन् १८७६ ई० में श्रीमती ऐनीबेसेंट ने भारतवर्ष में विद्योत्सोकी का आदर्श प्रचार करके, कर्मी में विद्योत्सोचिन्तन का बीज भी स्थापना की। इसमें सर्व धर्म-समन्वय की भावना की और 'सुधैव कुटुम्बकम्' का संदेश स्वीकृत था। पाश्चात्य संस्कृति के अन्तर् पूर्व संस्कृति की इसमें प्रधानता थी। इस प्रकार इस समय में भारतीय अन्धकारवाद का महत्व विरोध रहा और भारत इसका बीज बन गया। विदेशों के अनेक विद्वानों ने यहाँ आकर इसके प्रचार के लिए कार्य किया। बंगाल में भी रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने पूर्व और पश्चिम दोनों में ही अन्धकार का संदेश सुनाया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य समाज कल्पि अपनी पूर्व शक्ति से देश में प्रचारित हो रही थी फिर भी स्वतन्त्रता और वृद्धता भारतीय अपनी प्राचीन संस्कृति का सुधार करके अपने पूर्व गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे। आर्य समाज, मछ समाज आदि के प्रतिष्ठित स्वरूप सन् १८८८ में 'भारत वर्म महामंडल' की स्थापना आर्य-धर्म को सुसंगठित करने के उद्देश्य से ए वीनव्यास की ने की। ए मन्वमोहन मातृनीय तथा मातृन्य प्रसाद की मित्र इसके सदस्य थे।

इस धार्मिक शक्ति के पुनर् में आर्यधर्म-प्रचार पवित्र कर्मी में धर्म के उद्धार के लिए प्रयास होना स्वाभाविक ही था। कर्मी महाराज धर्म-समा की स्थापना इसी उद्देश्य से हुई। इसके संयोजक तथा कोषाध्यक्ष भारतैन्नु जी विद्युक्त हुए। सन् १८७३ ई० में भारतैन्नु जी ने 'धर्म्य और वैष्णव' की पत्रकी स्वीकार की। भारतैन्नु जी ने वैष्णव धर्म-संबंधी कई लेख भी किये और वैष्णव धर्म के उद्धार के लिए प्रयास प्रयाम भी किया। भारतैन्नु जी धर्म्य के सुगत स्वरूप के उपायक थे।

इस युग के साहित्यकारों ने अपने युग की परिस्थितियों का बहुत कुछ सच्चा चित्रण किया है, जिसका आधार लोकनेता, अण्णासबाय और समाज-सुधार है। उनके साहित्य में धार्मिक प्रकृति का संदेश है। भारतेन्दु जी वं० प्रतापसारायण मिश्र और वं० अम्बिकादत्त व्यास के बीच सुधारवादी तथा परम्परागत शैक्षणिक धर्म की खेदक वाद-विवाद भी हुआ। अतः धार्मिक साहित्य-गोष्ठी का निर्माण हुआ। दयानन्द जी के "सत्यार्थ प्रकाश" और "वेदांग प्रकाश" की धार्मिक प्रतिष्ठियाँ में श्री अम्बिकादत्त व्यास जी ने अक्षतार मीमांसा दयानन्द वास्तु-विद्वान् आदि सिल। राधाकृष्ण दास जी ने भ्रमछाम मार्क शिक्षा जिसमें अन्ध धर्मों के समस्त वैयर्थ्य धर्म की खेदता मित्र की गई है।

रब्राय जी तीर्थीय साधक सम्प्रदाय के मनुष्य ध तथा वैयर्थ्य धर्म की मान्यताओं के समर्थक थे। भारतेन्दु की वैयर्थ्यता का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा था।

### साहित्यिक परिस्थिति

सन् १८५० ई० से १९०० ई० तक का समय भारतेन्दु युग और उसकी प्रथममि के रूप में प्रकृत किया जा सकता है। भारतेन्दु का रचना-काल सन् १८१० से सन् १८८४ ई० तक रहा। १८५० से पहले एक ऐसा युग रहा जो कि बहुत कुछ प्राचीनता का पापक था। विषय-शैली तथा भाषा की दृष्टि से साहित्य-क्षेत्र में बहुत कुछ पुरातनवादिता विद्यमान थी। काव्य रचना ही प्रमुख थी। गद्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारतेन्दु युग में साहित्य की नवीन दृष्टि उद्घाटित हुई। युग प्रकृति के कारण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शक्ति हो रही थी। अतः साहित्य-क्षेत्र में भी नवीन विषय नवीन विचारधारा नवीन शैली तथा भाषा प्रयुक्त की जा रही थी। साहित्यकार देश की सभ्यतासुर्भी अक्षति करना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने अपने-अपने प्रकार की साहित्य-शैलियों को प्रकृत किया। अतः अक्षर-आधुनिक काल में जो परिवर्तन हुए उनका सूत्रपात इसी युग में हुआ यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। हा० काल के शब्दों में—

'हिंदी साहित्य का आधुनिक काल विद्यमान और परिवर्तन का युग है। हमारा साहित्य के इतिहास में ऐसा एक भी युग न था जिसने इतने बहुमुखी विकास और इतनी प्रचुर प्रतिभा का परिचय दिया हो। इस काल में प्राथमिक विचार का विकास और अक्षर-क्षेत्र में परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हुए कि हमने साहित्यिक शक्ति का युग कह सकते हैं। इस काल की प्रमुख विशेषता यह है

में आर्ष-समाज की भी स्थापना हुई। इस संस्था में वैदिक संस्कृति-स्थापना और वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करने का प्रयत्न आरम्भ नि ही समाज-सुधार के प्रयत्न की आरम्भ हुए। मूर्ति-पूजा तथा अन्धकार में ये लोग नहीं थे। बहू विचार इत्यादि की भी समाज से इत्यने हुआ। आगे इसमें भी हाँ इतनी हो गई। एक तो मुख्यतः पत्नी की तथा धार्मिक कृत्यों के लिए वेद की प्रमाणा माचते थे दूसरे कश्चित् पाश्चात्य आदर्श ग्रहण करना चाहते थे। स्वामी ब्रह्मचर्य तथा साक्षात्कृत होना पत्नी के प्रवर्तक थे। ब्रह्मचर्य की भी स्थापना पर की स्थापना की।

सन् १८७३ ई में श्रीमती पेनीकॉट ने भारतवर्ष में विधोसो-आदर्श ग्रहण करने काशी में विधोसोकिष्क कश्चित् की स्थापना की। सर्व धर्म-समन्वय की भावना की और बभ्रुपीय कुटुम्बकम् का संदेश था। पाश्चात्य संस्कृति के ऊपर पूर्ण संस्कृति की इसमें प्रभावता थी। प्रकार इस सम्प्रदाय में भारतीय अन्धकारवाद का महत्व विद्योप रक्षा और मा इतना कम बन गया। विदेशी के अनेक विद्वानों ने बहू आकर इसके प्र-के लिए कार्य किया। बंगाल में श्री रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व और पश्चिम दोनों में ही आत्मवाद का संदेश सुनाया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य सम्प्रदाय बहोपि अपनी पूर्ण शक्ति न देश में प्रचारित हो रही थी फिर भी स्वामिमानों और ब्रह्मचर्य भारतीय अपनी प्राचीन संस्कृति का सुधार करके अपने पूर्ण गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे। आर्ष समाज प्रथम समाज आदि के प्रतिष्ठित स्वरूप सन् १८८८ में 'भारत धर्म महामंडल' की स्थापना माधुच-धर्म को सुसंगठित करने के उद्देश्य से पं० शिवदास जी ने की। पं० मदनमोहन मालवीय तथा माचन प्रसाद जी मित्र इसके सदस्य थे।

इस धार्मिक क्रांति के युग में ब्राह्मणधर्म-महाल पश्चिम काशी में धर्म के उद्धार के लिए प्रयास होना स्वाभाविक ही था। काशी महाराज धर्म-समा की स्थापना इसी उद्देश्य से हुई। इसके संयोजक तथा कोषाध्यक्ष मारतेनु की विपुल हुए। सन् १८७३ ई में मारतेनु की ने 'अनन्य धर्म वेदवाच' की पत्र-पत्रिका की। मारतेनु की ने वेदवाच धर्म-संवेदी कई खंड की निकले धार वेदवाच धर्म के उद्धार के लिए पत्र-पत्रिका प्रकाश की किया। मारतेनु की श्रीकृष्ण के युग-काल के उपासक थे।

इस युग के साहित्यकारों ने अपने युग की परिस्थितियों का बहुत कुछ सवा चित्रण किया है जिसका आदर्श लोकमत का व्यापकवाद और मनाज युवा है। इनके साहित्य में धार्मिक प्रवृत्ति का संकेत है। मार्लेण्डु जी एवं आचार्यरायण मिश्र और पं० अश्विनादत्त व्यास के बीच मुपारवाही तथा परम्परागत धार्मिक धर्म का लेखन बाद-विवाद की हुआ। फलतः धार्मिक साहित्य-गोष्ठी का निर्माण हुआ। इयानन्दु जी के “सन्धास प्रकाश” और “वर्णा प्रकाश” की धार्मिक प्रतिक्रिया में श्री अश्विनादत्त व्यास जी ने अन्ततः संस्थापना, इयानन्दु पाठक-विद्वान् आदि लिखे। राजाहण्डु हास जी ने अन्ततः नाटक लिखा जिसमें धर्म धर्मों के समष्टि बैष्णव धर्म की अर्थता सिद्ध की गई है। रत्नाकर जी गौरव्य माधव मन्त्रदाय के मन्त्र्य ध तथा बैष्णव धर्म की मान्यताओं के समर्थक ध। मार्लेण्डु जी बैष्णवता का उद पर पुनः प्रकाश पया था।

### साहित्यिक परिस्थिति

सन् १८५० ई० से १९०० ई० तक का समय मार्लेण्डु युग और उर्ध्व की प्रवृत्ति के रूप में प्रदृश्य किया जा सकता है। मार्लेण्डु का रचना-काल सन् १८९० से सन् १८८३ ई० तक रहा। ८९० से पहले यह युग युवा रहा जो कि बहुत कुछ प्राचीनता का पारक था। विषय-माला तथा भाषा की दृष्टि में साहित्य-क्षेत्र में बहुत कुछ उन्नत-वर्धिता विद्यमान थी। धर्म्य रचना ही प्रमुख थी। गद्य की धार विचार-प्राप्त नहीं दिया गया। अन्तः काल युग में साहित्य की नवीन दृष्टि उद्घाटित हुई, युग प्रवृत्ति के कारण अन्तः काल के विविध धर्मों में अर्थित हो रही थी। अन्तः साहित्य-क्षेत्र में भी नवीन विचार-नवीन विचारधारा, नवीन गौला तथा भाषा प्रदृश्य की जा रही थी। साहित्यकारों की मन्त्रेणुकी उन्नति अन्ततः भारत में और इसके लिए उन्नति अन्तः प्रकाश की साहित्यकारियों का प्रदृश्य किया, अन्तःकाल आधुनिक काल में अन्तः परिवर्तन हुए अन्तः अन्तःकाल युगी युग में हुआ यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आ० काल के अन्तों में—

“हिंदी साहित्य का आधुनिक काल विद्वान् और परिष्कृत का युग है। इसका भाषा के इतिहास में युवा एक ही युग न था जिसका इतने अन्तःकाली विचार और अन्तः अन्तः प्रतिभा का परिष्कृत दिया था। इस काल में अन्तःकाली विचार का विद्वान् अन्तःकाल क्षेत्र में परिवर्तन अन्तःकाली अन्तःकाल से हुए कि इस साहित्यिक अर्थित का युग अन्तःकाल है। इस काल की प्रमुख विचारधारा अन्तःकाली

त्यिक रूपों और प्रकृतियों की विविधता है। सामान्यतया उन नवीन कृतियों का विभाजन इन निम्नलिखित श्रेणियों के अन्तर्गत कर सकते हैं :—

१. मद्राजभाषा के स्वातंत्र्य पर लक्ष्मी बोली का प्रदूषण।
२. फारसी विषय शब्द अभिव्यञ्जना शैली तथा विचारों में परिवर्तन।
३. गद्य तथा उसके विविध अंगों का कदाही, नाटक उपन्यास समालोचना गद्य काव्य आदि का विकास।
४. सामयिक-साहित्य का आरम्भ तथा विकास।
५. पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार।

उपर्युक्त सभी प्रकार के साहित्यकारों का आरम्भ तो भारतेंदु युग में ही हो चुका था। आधुनिक युग में इनकी विद्येय उन्नति हुई परन्तु इनमें प्राचीन विचारों तथा शैली की भ्रष्टक बहुत कुछ विद्यमान रही। मरिचि और शूद्रक अथवा बीरब-भ्यञ्जक कविताओं की रचना परम्परागत शैली में तथा काव्य-भाषा मद्राजभाषा ही रही। किन्तु इतने पर भी देश-भक्ति समाज-सुधार जनहित मान्यभाषा का महत्त्व आदि विषयों को खोप करण्य-रचना होने लगी। स्वयं भारतेंदु की ये ये विषयों पर बहुत कुछ लिखा था। ये इन सम्पूर्ण नवीन प्रकृतियों के प्रतिनिधि कह जा सकते हैं। परिवर्तन उपस्थित करने का श्रेय प्रधानतया उन्हीं को है।

आधुनिक युग में काव्य-विषय नवान रूप। सामाजिक जीवन से संबंध रखने वाले विषय प्रदूषण किये गए। समाज के पुनर्विर्माण के लिए उसे उसकी सुराहियों का विग्रहण कराया गया। इतिहास राजनीति, दर्शन तथा समाज-सुधार संबंधी कितने ही विषय इस युग के कवियों ने प्रदूषण किये और उन पर तत्त्वबोधन से पूर्ण कविताओं की रचना की गई। रामकृष्ण वर्मा प्रतापभारत-क-मित्र भीमर पाठक इत्यादि कवियों ने इस प्रकार की बहुत-सी कविताएँ रचीं। प्राचीन परम्परा की कविताएँ भी साक-साक चकती रही और उनमें भी पर्याप्त सुधार हुए। मरिचि, शूद्रक तथा बीर रस की कविताएँ इस प्राचीन परम्परा से कितने संबंध रखती हैं और उनके लिए कवियों ने नवान विषय भी खोज किये। का काव्यों के श्रेणियों में—

विषय की दृष्टि से भारतेंदु की की कविता बहुत कुछ आगे बढ़ गई परंतु पूर्णवर्ती ऐतिहासिक काव्य का काव्य-सौम्य न का लभ्य।<sup>१</sup>

वास्तव में प्राचीन शैली पर तथा कुछा काव्य रीति-कार्त्तम काव्य के प्रमाण ही सुन्दर बन पड़ा है। यह बात अवरुध है कि नवीन विषयों में यह काव्य सीम्पर्य व था सक्त्त जो रीतिकारकीन काव्य विषयों को छोकर कवि उत्पन्न कर देत थे। कला की दृष्टि से रीतिकारकीन पद्य-शैली में कविता, सजैवा, मनाकरी, शोहा, बीपार्थु अदि का प्रयोग तो मिलता ही है साथ ही संस्कृत-शुद्धों का प्रयोग प्रचलित होता दिखलाई पड़ता है। समस्या-वृत्ति इस युग की एक विशेष कला थी। गीत-काव्य का आधिर्भाव पारवात्य लीरिक के प्रभाव से हुआ। पद्य शैली हिन्दी में परम्परागत थी। प्रबन्ध काव्य इस युग में प्रायः नहीं लिखा गय। इस युग में गीत काव्य, मुक्तक अथवा निबन्ध काव्य की रचना विशेष कर से हुई। इन कविताओं में प्रायः सभी रसों का परिपाक दिखलाई पड़ता है। श्र गान और हास्य प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। हास्य में कुछ नवीन उदाहरण के आलम्बन भी था गय। आधुनिकता के स्वप्न पर राष्ट्रीय नेता अथवा ऐतिहासिक महापुरुष नायकत्व प्रदक्ष करने लग।

साहित्य के क्षेत्र में नवीन विचार-धारा और भाव स्थान प्रदक्ष कर रहे थे। कल्पना का प्रचार उन्मुक्त रूप में हो रहा था। केवल रूढ़ि में र्थे हुए चैत्र तक ही अब अन्तर्का सीमा रह गई थी। परम्परा से प्रचलित उपमान अब अतन्ने प्रिय नहीं रह गय थे और उनके स्थान पर नवीन उपमाओं का प्रदक्ष स्वतन्त्रता पूर्णक किया जा रहा था। प्रकृति के प्रति कवियों की दृष्टि विभन्न सजग हुई

काव्य-भाषा इस समय तक प्रबन्धभाषा ही रही है। किन्तु कहीं कहीं की ओर कवियों का मुक्तन हो चला था। फिर भी गद्य-रचना कहीं कहीं में और पद्य प्रबन्धभाषा में ही लिखा जा रहा था। यह भाषा-भेद लोगों को अधिक अधिक नहीं था। भारतीयु हरिश्चन्द्र इस ओर विशेष प्रयत्नारीथ थे। उन्होंने इस प्रकार की तुकबन्दी का धारम्भ कर र्थे थी भिन्नसे कहीं कहीं कविता का सुत्रपात होता है। इन प्रकार से उन्होंने इन पद्यों के द्वारा प्रयोग धारम्भ किया था। इनकी एक तुकबन्दी मन् १८८१ में १ सितम्बर के 'भारत विम्व' में कयी थी, जो इस प्रकार है।

खोज खोज छाया खोज, खोज सज्जक पीथ।

कीचड़ में जूठा फँसे जैन मध्य में नीच ॥

यह तुकबन्दी उन्होंने प्रयोगात्मक रूप में लिखी थी। उन्होंने सत्यात्मक को यह भी लिखा था—

'प्रचलित साधुभाषा में यह कविता मेरी है। देखियेगा कि इसमें क्या अन्तर है और किस उपाय के आलम्बन करने से इसमें काव्य-सीर्द्धन बन सक्ता



है। इस संबन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति प्राप्त होने से आगे से ईसा परिचय किया जाएगा। लोग विरोध इच्छा करेंगे तो और भी लिखने का प्रयत्न करूँगा।”

श्रीधर पाठक नाथूराम शंकर शर्मा आदि कवियों ने इस नवीन परिपाटी को अपना लिया यद्यपि प० प्रतापनारायण मिश्र आम्बिकादत्त व्यास आदि कवि प्राचीन शैली को अपनाए हुए थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि १३ वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक कबी कोली के पदों में विशेष प्रीकृता तथा अल्प-संनिर्घं का समावेश नहीं हो सका।

पाठक्य साहित्य का प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा भारम्भ हो गया था। इसके फलस्वरूप छंदों में व्यापकता तथा उदारता आ गई थी। समाज और साहित्य का स्थायी संबन्ध स्थापित होने लगा था, स्त्रियों की उपेक्षा पर बाल्य बिक तथा समाजैकात्मिक जीवन की ओर छंद उन्मुख हो चली थी। नवीन और पुरातन का मिश्रण इस युग में प्रद्विगत होता था। वास्तव में इस युग की साहित्य-सृष्टि, चाप पृथक् करवा के गद्य में विहार करनेवाली रीति-मूर्खता कविता और जीवन तथा कर्म में विश्वास करनेवाले पदार्थवादी आधुनिक साहित्य की बड़ी है। ‘भारतेंदु की कविताओं में शृंगार और स्वयं-यम वाचात्म्य की सति और टीकावारी भाषा की शक्ति का उपहास प्रार्थना और नवीनता एक साथ है।”

उपर्युक्त कथन विशेषी-का प्रतीत होता है कि वास्तव में स्थिति बड़ी थी। विचित्रता ही युग की विशेषता थी। कवि कल्पना-शौक से पूछी पर उठर रहे थे। राजनीतिक आर्थिक आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर वे नवीन विषय ग्रहण कर रहे थे और जीवन-संघर्षी संवेद बालक काय की रचना कर रहे थे। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्पर्क में जाने के कारण भारतीयों की अपने तीरथ का ज्ञान हो रहा था। वे भविष्य के आशा-पूर्ण स्वप्न देखने लगे थे। उस स्वप्न को सत्य बनाने की आकांक्षा उनके हृदय में बसवती को उठी थी और इसके लिए उन्होंने विरंतर प्रथम आरम्भ कर दिए थे।

भारतेंदु युग के पहले प्रायः अल्प रचना की ही प्रयत्नता रही। गद्य का लक्ष्य केवल प्रशंसा की टीका के रूप में प्राप्त होता है अथवा फिर भारतेंदु युग

१. भारतेंदु युग, डा० रामबिलास शर्मा, पृ० १३८ से ६६।

२. महाश्रीरामदास द्विवेदी और उनका युग : डा० उदयमान मिश्र

के आरम्भ में समाचार-पत्रों में गद्य का व्यवहार होने लगा। साहित्य-क्षेत्र में भी गद्य का आरम्भ प्रबलतया भारतेन्दु जी की ही दैन है। नाटक उपन्यास कदाही निबन्धों आदि की रचना गद्य-क्षेत्र में प्रचुरता के साथ होने लगी। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने नाटक-रचना की ओर विशेष ध्यान दिया क्योंकि नाटक साहित्य का एक भेद भ्रग है साथ ही प्रचार का एक अच्छा साधन भी। भारतेन्दु के पिता गिरधरदास ने 'नहुष नाम का एक नाटक १८५६ ई में लिखा और इसके उपरान्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनेक भेद नाटक लिखे। भारतीय साहित्य में नाटक-परम्परा को बहुत बढ़ी निधि उपलब्ध थी। इसी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में नाटक की इतनी कमी नहीं थी जितनी हिन्दी में। इस कमी को पूरी करने की आकांक्षा भारतेन्दु के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई और उन्होंने संस्कृत बंगला तथा अंग्रेजी से अनुवाद किए और मौखिक नाटक भी लिखे। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', किशोरीकांत गोस्वामी की निधाम-दास अम्बिकाचरण ध्यास इत्यादि क्रिये ही खेलकों ने इस समय समाज के लिए उपयोगी नाटकों की रचना की। यद्यपि इनमें से बहुत से नाटक ऐसे भी थे जिसमें अभिनयशक्तता का ध्यान नहीं रखा गया था। यह नाटक पारचात्य तथा संस्कृत दोनों शैलियों से प्रभावित थे। उस समय पारसी थियेटर कल्पनियों का चार बा और वे कल्पनियों बबता की दृष्टि को दिगाइ रही थी। हम करार भी भारतेन्दु जी तथा उनके साथियों ने नाटक की ओर विशेष ध्यान दिया। पारसी नाटकों की भांति बहुत कुछ उद्ग प्रबल होती थी फलतः उस समय के नाटकों में भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। संक्षेपतः नाटक का उन्मूलन इस युग में बड़े उत्साह के साथ आरम्भ हुआ था परन्तु उसके स्वल्प में अभी स्थिरता नहीं आई थी।

### उपन्यास-कहानी

उपन्यास की रचना का आरम्भ यद्यपि इस युग में हो गया था किन्तु उसका स्वल्प नाटक से भी अधिक अस्थिर था। ईशा द्वारा रचित 'शानी केतकी की कर्तार' को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास कहा जा सकता है। इसमें उपन्यास तथा कदाही दोबों के तत्त्व प्रष्ट होते हैं। मद्रस मित्र का 'नयसिकेतो पापवान भी कदाही शैली की रचना है। भारतेन्दु युग में हाहा की निधाम-दास, प्रथमनारायण मिश्र राधाकृष्णदास किशोरीकांत गोस्वामी आदि लेखकों ने उपन्यासों की रचना की। जिसमें से कुछ तो अनुचित हैं और कुछ मौखिक। इस युग में उपन्यासों पर 'सहय रजनी चरित्र' की रहस्यमयी गैली का प्रभाव

लक्षित होता है। ऐक्यकीनद्वय सत्री के प्यारी और विह्वलनी उपन्यास हमी भेदी में आते हैं। बेंगला का प्रभाव भी इस युग के उपन्यासों पर क्लिष्ट दिव्यसाई देता है। पारिवारिक आवाचारण तथा उनके द्वारा समाज-सुधार की प्रवृत्ति इन उपन्यासों में मिलती है। प्यारी तथा आशुसी उपन्यास इस युग की क्लिष्टता है। किन्तु ये उपन्यास अधिकांशतः कौतूहलमयण हैं। दूसरी ओर सामाजिक उपन्यासों में आदर्शवादिता इतनी अधिक है कि वे केवल सिद्धांत प्रतिपादन के लिए किले जाय पड़ते हैं। संक्षेपतः इस युग के उपन्यास-साहित्य की स्थिति भी साधारण ही थी। आरुतव में साहित्य के इन अंग का अभी विकास होना आरम्भ ही हुआ था।

१३ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अंग्रेजी शासन की कृतीति के कारण उच्च का ही प्रभावता प्राप्त हो गई थी। अदाकतों और शिक्षा-संस्थाओं में इतना प्रभाव्य हो गया था। राजा शिवायसय सितारिहिव ने अपनी नुरदर्शिता के कारण ऐक्यनागरी किरि में हिन्दी और उच्च की मिली-जुली अदाकतों का प्रयोग आरम्भ कराया और भाग के इसी रूप की अर्द्धोच्च शिक्षा-संस्थाओं में भी स्थान दिखाने का प्रयत्न किया। किन्तु भारतोन्मु किले दिदी-येमी की पद बल सद्य न हुई और अर्द्धोच्च प्रयत्न किले। भारतोन्मु ने अपने विरन्तर प्रयास से हिदी की सयूय बनावे का प्रयत्न किया। साहित्य के विभिन्न अंगों को इर्द्धोच्च परिपूर्य किया और गद्य शैल्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन द्वारा भी इर्द्धोच्च गद्य-प्रचार का प्रयत्न किया। भारतोन्मु-मकडक का असाह बहुत प्रबल रहा। पं प्रतापभारतयण मित्र प० बन्दी नारायण चौधरी प० बालकृष्ण मह भीविवायसय पं सुबाकर द्विवेदी इत्यादि भारतोन्मु के सहयोगियों और अनुयायियों ने हिदी की विह्वलार्थ भाष से सेवा की और गद्य-साहित्य के प्रचार में योग दिया। स्वामी इबाबन्ध सरस्वती ने भी हिदी के ही माध्यम से धर्म प्रचार किया। इन सब शैल्यों की भाषा किले परिमर्द्धित नहीं थी किन्तु आरम्भिक भाषा के रूप में बहुत कुछ समर्थ कर्ही था सक्ती है। धामी आने वाले शैल्यों के लिए यह पत्र-पत्रिका बल गयी।

भा० प्र० समा और महात्मना माकडकीय की के प्रयत्नों से १८ अरद्वपर १९० ई में हिदी की अदाकत की एक भाग के रूप में स्वीकृत हुई। किन्तु इने किलेय व्याकडारिकता प्राप्त नहीं हुई।

### निघन्ध एवं आलोचना

इस युग के साहित्य में निबध का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। पत्र-पत्रिकाओं में किलेय ही विचार व्यञ्जना का प्रमुख माध्यम बनता है। अतः इस युग में

प्रायः सभी लेखकों ने निबंध को ही प्रधानता प्रदान की। डा० उदयमानु सिंह का यह कथन बहुत ही उपयुक्त है— 'इस युग के फलक, हास्त्यमित्र, मिलनसार और सजीव लेखकों ने पाठकों के प्रति मित्ररूप और मूलकंठ से अपनी भावनिष्पत्ति करने के लिए कविता, नाटक या उपन्यास की अपेक्षा निबंध को ही अधिक श्रेयस्कर माध्यम समझा।'

वास्तव में यह युग आंदोलनों, समाज-समाजों और ध्यातयानों का युग था। वास्तविकता की कि इस युग में ऐसे साहित्यिक माध्यम प्रदत्त किए जायें जो इस उद्देश्य के लिए उपयुक्त प्रमाणित हों। यद्यपि इस युग के निबंधों में न ता आगा और शैली का संगठन है और न वे सुसंस्कृत ही हैं, किंतु शब्दों के इवज की गहरी भावना और वास्तविक प्रयास इन निबंधों में बड़ी स्पष्टता के साथ परिगोचर होते हैं। लेखकों की उदार तथा ध्यातक दृष्टि का आभास हमें इन निबंधों में स्पष्ट रूप से मिलता है। समाज, धर्म, राजनीति और व्यक्ति सभी विषयों और क्षेत्रों का लेकर लेखकों ने सुभार के उद्देश्य से ध्यात-विनाशपूर्ण तथा मार्मिक कथन दिए हैं। लेखकों की निर्भीकता तथा उनकी सचाई का बहुत स्पष्ट आभास इन लेखों में मिलता है और निबंधों का प्रमुख तत्त्व व्यक्तित्व की प्रधानता कितनी इन निबंधों में व्यक्त होती है उतनी सम्भवतः आगे के निबंधों को प्राप्त नहीं हुई।

निष्पत्ति का उपयोग जहाँ एक ओर अपने विचारों का प्रचार करने के लिए हुआ वहाँ दूसरी ओर इसका उपयोग साहित्यिक आलोचना के लिये भी किया गया। साहित्यिक आलोचना के रूप में इस युग में बहुत आरंभ मचाने का ही विचार प्रचार देखा गया है। गद्ययुग के आगमन के साथ विचारों का स्वरूप में अभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति प्रबल हुई और आलोचना-सम्बन्धी विषय तथा प्रश्न रचे जाने लगे। भारतेन्दु युग में इनका सूत्रपाठ हुआ था। बदरीनारायण चौधरी ने छात्रा श्रीनिवासदास रचित नाटक स्यागिता-स्वर्णबा की विसृत आलोचना की थी। इस प्रकार आलोचना का क्रमिक विकास इस युग में आरम्भ हुआ। भारतेन्दु युग की आलोचना के बाद त्रिवेदी युग में ही आलोचना का स्पष्ट एवं क्रमिक विकास परिगट होता है। आलोचना और सिद्धांत सम्बन्धी प्रश्नों की रचना होने लगी। आरंभी से सिद्धांत सम्बन्धी प्रश्नों का अनुवाद भी हुआ। पीप के ऐनेा आन क्रिश्चियन का अनुवाद रत्नाकर जी ने 'आरु चनादर्ता' के नाम से किया था।

हिन्दी काव्य की प्राचीन परम्परा को मुख्य पाँच धाराओं में बाँटा जा सकता है। प्रथम बीर काव्य की धारा प्रायः ११ वीं-१२ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर आज तक किसी व किसी रूप में चलती आ रही है। हिन्दी के प्रादि काल में यह धारा प्रबल बग स आते ली। परन्तु अठिन्द्रा रीतिकाल और भारतेन्दु-युग में यह धारा शिथिल होती गई। अठिन्द्रा शताब्दी में फिर बीर रस की धारा का बग कुछ का गता।

दूसरी निर्गुण-काव्य की धारा बामदेव और कबीर के समय से प्राय १३ वीं-१४ वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। १५ वीं-१६ वीं शताब्दी में इसका प्रबल प्रचार हुआ और बाबक, शत्रु प्रादि संतों से इस धारा को बड़ा बल मिला। परन्तु १७ वीं शताब्दी से इसकी धारा नीच होने लगी और अब तक प्रायः शीघ्र ही खली आ रही है।

हिन्दी काव्य की तीसरी धारा प्रेमाख्यायक काव्यों की है। जो प्राय १७ वीं शताब्दी से, मूर व चंद्रा के प्रेमाख्यायकों से प्रारम्भ होती है। १७ वीं शताब्दी में कुतुबन जायसी प्रादि की रचनाओं से यह काव्य-धारा बड़ी लोक-प्रिय हो ली। प्रेमाख्यायक अतिशय सुखलमान कवियों ने ही, दादा पूष चौपाई की शैली में लिखे। कुछ हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यायकों का भी पता चलता है। आधुनिक-युग में प्रेमाख्यायक का यह धारा बहुत शिथिल हो गई।

सगुण अठिन्द्रा-काव्य का प्रारम्भ हिन्दी में १७ वीं-१५ वीं शताब्दी से बड़े बग से हुआ और इस धारा में हिन्दी के अश्वतम कवि सूर, तुलसी, बिदापति, मीरा, हित हरिवंश हरिदत्त नामादास प्रादि ने इन रस की अश्वत सृष्टि की। तुलसीदास जी के उपरान्त इस धारा का बग कुछ शिथिल पड़ गया। परन्तु आज भी यह हिन्दी का प्रमुख धारा है। आधुनिक युग में भारतेन्दु, रत्नाकर सत्यनारायण 'कबीरानन्द हरिदास वैजान्णेश्वरस गुप्त प्रादि अनेक कवि इसा परम्परा में आठ ह। हिन्दी का यह धारा बड़ा सजाव पूष काव्य-प्रप रही है।

## शृङ्गार की परम्परा

शृङ्गार रस का परम्परा साहित्य में अत्यन्त प्राचीन है। इस दृष्टि से भी कह सकते हैं कि शृङ्गार की परम्परा का प्रारम्भ ज्ञान के प्राय हुआ। जिस प्रकार अतिवृत्त में शृङ्गार की भावना अपना प्रमुख स्थाव रक्षती है उसी प्रकार साहित्य में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी साहित्य के प्रादिकाल में भी काव्य का अतिवृत्त मुख्य तथा इस युद्धों की समर्पित पर प्रमत्त-रूप उपसंहार देखने

में आता है। पूष्पिरीराज रामा, अस्तुत्तव, बीसलद्वय रामो इत्यादि इस युग के प्रेम काव्य, शृङ्गार की भावना से परिपूर्ण हैं। भक्तिकाल में भी कबीर और आवसी जैसे विगुर्बवादी कवियों ने अनेक शृङ्गारिक रूपकों के द्वारा अपने भक्ति-सम्बन्धी शृङ्गारों को व्यक्त किया था। भक्ति परम्परा के कवियों ने भी शृङ्गार रस का पर्वान्त समावेश अपने काव्य में किया। मजुर भक्ति का तो आधार ही शृङ्गार भावना है, परन्तु भक्ति-साहित्य जिससे मोत-मोत है। इस प्रकार शृङ्गार की यह परम्परा अपना बड़ा व्यापक रूप लेकर हमारे सम्मुख आती है।

भक्ति युग का काव्य प्रधानतया भावुकता को लेकर चला था। भक्त कवि मगवाल् के प्रति अपनी आन्तरिक रागात्मक भावना को व्यक्त करना चाहता था। इस अभिप्रेरणा में यह काव्य के बाह्य रूप की ओर इतना ध्यान नहीं देता था तात्पर्य यह है कि उसका कार्य अनुमृति प्रदान था, कष्ट-प्रधान नहीं। कृष्ण काव्य की परम्परा यद्यपि भक्ति के ही सूत्राचार को लेकर चली थी किन्तु कृष्ण की माधुर्यमयी लीलाओं के चित्रण में शृङ्गार का भाव ही प्रमुख दिग्दर्शक होता था। भक्ति तो केवल इन्हीं रूपों तक सीमित रह जाती थी, जो उसके वास्तविक तत्त्व का अनुभव कर सकते थे। अतएव हिन्दी साहित्य में शृङ्गार युग का आरम्भ ठा कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का आदर्श लेकर चला था परन्तु क्रमशः परन्तु कवियों में भक्ति की भावना स्पष्ट ऐन्द्रियता की ओर विशेष मुक्त गई। इस प्रकार काव्य में मानव-वृत्तियों की प्रधानता हो गयी। भक्ति युग के अनुयायी रीतिकारसीन कवियों का आदर्श काव्य के द्वारा आत्मगुण मात्र था। कवियों का एक बड़ा आजीविका की ओर में अनेक राज-महाराजाओं के दरबारों का आश्रय ग्रहण करता था। चन्द्र, जगदिक आदि कवि भी इसी वर्ग के थे। विद्यापति जैसे मठकवि ने भी महाराजा सिद्धसिंह तथा महारानी कविता देई के नाम का बार-बार उल्लेख करके उनके प्रति अपनी आदर-भावना प्रकट की है। इन्हीं के दरबार में रहकर इनकी जीविका चली थी। शृङ्गार युग के कवि प्रधानतया दरबारी थे। केदारदास इसके प्रथम उदाहरण बने जा सकते हैं। धर्म के सभी कवि इसी दरबारी मण्डप को लेकर चले, जिसका परिचय आश्रयदाताओं की भूरि-भूरि प्रशंसा के रूप में प्रकट हुआ। आश्रयदाताओं को वाक्यत्रय प्राप्त हो गया और इनके अनेक लीला-विकारों का सर्वत्र कृष्ण-कन्दोपा के समान किया जाने लगा। इनका शृङ्गार का वर्णन बहुत कुछ अमर्यादित तथा अरबीक भी हो गया। इस प्रकार के वास्तविक शृङ्गार का वर्णन कृष्ण के जीवन पर आरोपित

होकर साहित्य में कृत्रिमि का संचार करने लगा, जिसके कारण समाज नैतिक पक्ष की ओर उन्मुख हुआ।

यह तो भक्ति का न गारी भावनाओं में परिवर्तित होने का कारण हुआ। शैली की दृष्टि से संस्कृत काव्य-शास्त्रियों का अनुकरण करने की ओर हिन्दी कवियों की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। कवि-समाज भाषा और शब्दों को प्रबंधित करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था। भाषा का संस्कार मल्लिकार्जुन के कवियों ने भी बहुत कुछ कर लिया था। न गार काठ तक पहुँचते-पहुँचते उभय पक्ष कुछ संस्कार हो चुका था और वह क्रमशः से क्रमशः तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाषा की योजना-अभिप्रेक्षा करने में समर्थ हो चुकी थी। न गार युग में जिस प्रकार की रसपूर्ण काव्य-रचना प्रचुर मात्रा में होने लगी इसका कारण ईत हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस प्रकार कहते हैं :— 'दो प्रकार से हम प्रकर के सरल शब्दों की रचना की योजना मिली पहले प्रबंधकों के हाथों पर कथित करने और फिर नाटक-द्विवेचना के रचनात्मक के एक अत्यन्त समान पर महात्मा पूर्ण अंग वाचक शक्ति के नाता भेद-उपभेदों की दृष्टि करके और उनके हाथों पर उदाहरणों की रचना करके। दूसरी बात की ओर कवियों की प्रवृत्ति कथित रही।' इस प्रकार इस प्रकाश की ओर मुझने के कारण न गार काव्य में 'रीति शैली' का आविर्भाव हुआ।

संस्कृत साहित्य के विभिन्न आचार्यों के मतानुसार साहित्य क्षेत्र में भवेद वैज्ञानिक संग्रहणों का प्रचार हो गया था—रस संग्रहण, प्रबंधन संग्रहण, रीति संग्रहण, कथित संग्रहण, कवि संग्रहण तथा कथित संग्रहण। प्रबंधन-शास्त्र का अनुकरण करने करनेवाले कवियों की संख्या कहीं अधिक थी। इसमें शैली की दृष्टि से विविध पद-रचना का माधुर्य होने के कारण न गार युग का नाम रीतिकाल पड़ गया। वास्तव में काव्य युगों पर कथित रचना-प्रकार ही इस युग की कथिता का कथित लक्षण है। इसी के द्वारा काव्य में रस की विधि स्वीकार की गई और इस कारण इस युग के काव्य का नाम रीतिकाल पड़ गया। यहाँ पर रीतिकाल का रीतिक परिचय दे देना प्रयुक्त न होगा।

## रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के सम्प्रदायाचार्य नामग दे, जिन्होंने विरचित यह रचना को रीति कहा और यह रचना को गुणों के समर अप्रमित मना। गुण उनके समुदाय काव्य को शोभित करनेवाले धर्म हैं और यह गुण ही स्थायी लक्ष्य हैं। अतः दोषों का विचारण करते हुए गुणों और अलङ्कारों के प्रवृत्त से ही काव्य में सुन्दरता उत्पन्न होती है। आगे चलकर इन्हीं ने अपने काव्यादर्श में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से योका परिवर्तन कर दिया, उन्होंने अलङ्कार तथा गुण दोनों को ही काव्य के विपु भागस्वरूप मान लिया। उन्होंने सुन्दर शब्दावली का प्रयोग आचरमक भाषा और इसी शब्दावली के उपयोग को उन्होंने रीति कहा।

रीति सम्प्रदाय के पूर्व इस सम्प्रदाय तथा अलङ्कार सम्प्रदाय का सम्बन्ध ही कहा जा। भरत का नाट्यशास्त्र रस-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम ग्रन्थ था। इसमें कविता का मूल्यांकन रस ही स्वीकार किया गया था। किन्तु आगे चल कर जज्ञ और जज्ञ आदि अलङ्कार-शास्त्रियों ने केवल अलङ्कार को ही काव्य की अग्रमा माना और काव्य में इसी की स्थिति को प्रमुख स्वीकार किया। रस पद्धति को उन्होंने केवल वाक्य के उपयुक्त माना, काव्यालोचना के विपु उन्होंने अलङ्कार को ही असीम स्वीकार किया। कथोक्ति और अतिशयोक्ति को भी उन्होंने अलङ्कार रूप में ही स्वीकार किया। हिन्दी में केवल इस सम्प्रदाय से सबसे अधिक प्रभावित रहे।

रस और अलङ्कार के उपरान्त रीति सम्प्रदाय आया, जिसमें गुणों को प्रधानता मिली। 'रीति' शब्दों के विपमित और संबन्धित प्रयोग को करते हैं ( गुणों के अस्तित्व से ही रीति की प्रतिष्ठा होती है )। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय में अलङ्कार सम्प्रदाय से अधिक उन्नतता मिलती है। इसमें गुणों का समन्वय इसका विशेष स्थापना प्रदान करता है। यद्यपि यह सत्य है कि गुणों का स्वल्प बहुत कुछ व्यतिरिक्त होता है और वैयक्तिकता काव्य में कवि का प्राधान्य स्थापित कर देती है किन्तु फिर भी प्राप्त विशेष के विद्यमानों की सीमा बहुत कुछ एक ही प्रकार की होती है। इन शैलियों में रस, अलङ्कार और गुण का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ। वैयक्तिक तथा परम्परागत कलाओं के सम्मिश्रण से यही में प्रोत्साहन उत्पन्न हुई।



## ध्वनि संप्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय का ही व्यापारिक रूप था, जिसने ब्रह्म द्वारा रीति और गुणों को उसके उचित स्थान पर नियुक्त किया। पुनः परतों में रस-निष्पत्ति के लिए रस सम्प्रदाय ने कोई मार्ग नहीं निर्दिष्ट किया था। ध्वनि सम्प्रदाय में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ कि सत् काव्य में अन्तःकारपूर्वक व्यंग्यार्थ होता है। इस प्रकार स्पन्द कर्मों में भी रस की स्थिति सुगमतापूर्वक प्रदर्शित की जा सकती है। ध्वनिवादी उस काव्य की ध्वनि मानता है जिसमें रस-सिद्धि नहीं होती और अक्षर, गुण इत्यादि को वह रस-सिद्धि में सहायक मात्र मानता है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय काव्य-धर्मशास्त्र की एक महत्वपूर्वक शीर्षी बन गया।

उपर्युक्त परम्पराओं पर दृष्टि बाधने के उपरांत यह कहा जा सकता है कि रीति-गुण का आरम्भ एक प्रकार से केशव जैसे अक्षरकाराचार्यों से ही हुआ। अक्षरकार भूषण तथा मतिराम का कव्य रीति-गुण में महत्वपूर्ण है। अक्षरकार तथा मतिराम दोनों ही रसप्रधान रचना के लिए प्रसिद्ध हैं। मतिराम का भाषा-सौन्दर्य, प्रसाद तथा माधुर्य गुण प्रशंसनीय हैं। किवारी का कव्य रीति-गुण में बहुत ऊँचा है। वे दोनों की कारीगरी तथा 'बल की कर्मशास्त्र' के लिए प्रशंसित रहे हैं। सौन्दर्य और प्रेम के मञ्जोरम चित्र उनके काव्य में मिलते हैं। प्रथमतया वे अक्षरकारवादी कवि थे। कविवर देव अपनी मौखिक उद्गाहनाओं, सौन्दर्यप्रिय प्रवृत्ति उन्मत्तता व्यापकता तथा आश्चर्यमयता के लिए प्रसिद्ध हैं। वे बहुत ऊँचे रसवादी तथा ध्वनिवादी कवि हैं। दास जी (मिश्रादीनाथ) श्रेष्ठ आचार्य हैं। वे श्रेष्ठ कवि पहले ही न हों परंतु जबमें आलोचना दृष्टि पूर्वक तथा विकसित की और इस गुण के अंतिम श्रेष्ठ कवि के पद्यकार। भाषाविकार अनुप्रासमिथता, चित्रय शक्ति तथा प्रसाद की दृष्टि से पद्यकार बहुत ही मीठ कवि प्रदर्शित हुए हैं। कविवर रत्नाकर इन्हीं को आदर्श मानकर बचते रहे। अक्षर, अक्षरार्थ, शोभा, अक्षर, अक्षराराम, सेपक इत्यादि कुछ ऐसे कवि भी हुए जो ध्वनिवाद तथा मुक्त रसवाद के आधार पर काव्य रचना करते रहे। इन सबका समन्वित भाव लेकर रत्नाकर जी ने जैसे इस गुण के अवसंधार के रूप में अपने काव्य की रचना की है।

एक गार काव्य की परम्परा का सर्वोत्कृष्ट में आरम्भ प्रथम शताब्दी ईसवी से अन्तर्गत रूप में माना जा सकता है। माहृत में रचित दास की सप्तसई में अनेक ऐसे चित्र मिलते हैं जो अक्षर अक्षर आश्चर्यमयता अथवा शोभाशक्ति को कोई संबंध नहीं रखते, परन्तु विनम्र सम्बन्ध केवल शोक-वीर्य के मधुर

श्री से है।' इन्हीं धर्मों के विजय से नायिक मेद, नक्षत्रिक, पद्मचन्द्र  
 म्ना आर्षकार परम्परा का आरम्भ स्वीकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय छंद से इसके की 'सुखसई' तथा गोवर्धनाचार्य रचित 'आर्षा-  
 म्पती' में येम काव्य के सुन्दर विन्न सुन्दर शब्दों में मिलते हैं। नायिकाओं  
 केमात्र, आचार-भ्रमहार, केममूपा आदि का विजय ही नायिकाओं के  
 रमात्र, आयु तथा परिस्थिति संबंधी मेटों की स्थापना का मूक आधार माला  
 सकता है। इस प्रकार के विजयों का शास्त्रीय तथा विकसित रूप भारत के  
 आर्याय में अपहृत्य होता है। रंगमंच पर अभिनय करनेवाले मेटों की  
 ममूपा, उनके आंगोपांग असेकरय तथा अगों के सौंदर्य का विरलेपय नाक्य-  
 म्ना में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ केमात्र-मक्ति परम्परा के आधार  
 रचित मक्ति संवधी "उम्क मीसमयि" जैसे मंत्रों में भी गोपिकमों के  
 केमात्र तथा सौंदर्य का वर्णन करते हुए मकों ने नायिका मेद का ही सहाय  
 किया है। इस प्रकार यह परम्परा एक ओर तो केमक जैसे आर्षकारमेटियों के  
 आरम्भ से सीधी आचारम्व परम्परा को केमर दिव्य-सहित्य में आई, दूसरी  
 ओर मूर के आरम्भ से मक्ति संवधी परम्परा को प्रहय करके नायिक मेद ने  
 आर-म्व का आर्षमन दिया और नायिका-मेद का मक्ति के आधार में विपय  
 हुआ कम सामने आया। ईति युग में विष्टेयतया यह आर-म्व संबंधी  
 नायिकमेद केमर परम्परा का पञ्जन करता हुआ देका जा सकता है। ईसा  
 की दूसरी शताब्दी के आरमग बाल्यापन के अमम्व की रचना हुई। इसमें  
 नायिकमों के सुख मेटों का विवेचन किया गया है। इस आधार पर मी  
 न गार युग के कवियों ने नायिकमेद तथा असेकरय का वर्णन किया है। इन्हीं  
 नायिकमों के संमहा-विमहास का वर्णन करने के साथ-साथ कवियों ने उदीपन-  
 विमहा के रूप में पद्मचन्द्र का वर्णन भी किया है। अनेक कानुमों का प्रचलित  
 परम्परागत रूप विकसित करके कवियों ने रस-परिपाक में सहायता की है। इस  
 प्रकार नायिक मेद, नक्षत्रिक, पद्मचन्द्र वर्णन तथा असेकरय परम्परा का आरम  
 एक साथ होवा हुआ देका जा सकता है। म्कार युग के कवियों में ये  
 पदुर्ध्व आचारम्व की ओर में बराबर चलती रही। संस्कृत के असेकरय-म्व  
 का अनुसरण करके हिंदी के कवि भी शास्त्रीय रचनाएँ करते रहे। संस्कृत  
 में प्रचलित अनेक संप्रदायों की छंद से देकने पर हिंदी के कवियों की चिन्ती

संभवाप किमोप का अनुपायी नहीं कहा जा सकता । इनमें मात्रा सभी संभवाओं के लक्षण मिली-जुली प्राप्त होती हैं । इस प्रकार गद्य-सम्बन्धी विभिन्न परम्पराएँ केशव से पद्मकर तक और पद्मकर के उपरान्त परवर्ती कवियों से रत्नाकर तक निरन्तर आकृती रहती हैं । रत्नाकर में वाक्यान्त, अक्षरान्त, पद्यान्त-वर्णन, वाक्यविच्छेद आदि सभी परम्पराएँ स्पष्टतया देखी जा सकती हैं ।

---

काव्य-कृतियाँ



## रचनाकाल

रजाकर जी के रचनाकाल को हम लगभग दस भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनके रचनाकाल का प्रारम्भ सन् १८९७ ई० से १९०२ ई० तक तथा उत्तरार्ध सन् १९१२ ई० से १९२२ ई० तक (उनकी मृत्यु सन्) तक मानना उचित है। सन् १९०२ ई० से १९१८ ई० तक रजाकर जी साहित्यिक क्षेत्र में पूरा रूप से मौन रहे। अन्ततः लगभग १५ वर्ष तक हिन्दी-साहित्य को उनका कार्य भी रक्त प्राप्त न हो सका। यद्यपि कुछ पुस्तकालयों की रचना हुई, किन्तु वे उनके रचनाकाल के उत्तरार्ध में ही प्रकाश में आयीं।

## पूर्वार्ध की रचनाएँ

हिन्दी साहित्य में रजाकर जी का आगमन प्रभावशाली समस्यार्थियों के द्वारा हुआ। काव्यप्रयोग के क्षेत्र में हमें सम्भवतः १८९७ ई० में हिन्दीभाषा का वर्तन होता है। तत्परन्तु 'हरिकण्ठ' काव्य तथा उसके प्रारम्भ के रूप में 'कव्यकर्मा' का निर्माण हुआ। सन् १८९७ ई० में ही रजाकर जी द्वारा 'साहित्य रजाकर' (काव्य निरूपण खंड) 'साहित्य-मुद्रानिधि' पत्र में प्रकाशित हुआ, जिस बाद में नागरी-मञ्जरि-समाज ने पुस्तकालय प्रकाशित किया। नागरी-मञ्जरि-पत्रिका के प्रथम वर्ष के गर्तवर्षीय खंड में "समाजवाचक" का कुछ भाग प्रकाशित हुआ, किन्तु पूरा अनुवाद उनके रचनाकाल के उत्तरार्ध में प्रकाशित हुआ। 'धनादारी निपण रजाकर' नामक खंड १८९७ ई० में प्रकाशित हुआ तथा १९०२ में 'बस सबैसा कन्द' नामक खंड 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

रजाकर जी की प्रारम्भ की रचनाओं में भारतीयों की प्रभावशाली प्रवृत्ति काव्य की ही प्रधानता है। पुस्तकालयों की रचना समय-समय पर होती रही तथा समस्यार्थियों की प्रभावशाली प्रवृत्ति काव्य में हुई। रजाकर जी के रचनाकाल का पूर्वार्ध रचनाओं की दृष्टि से उत्तरार्ध की अपेक्षा कृत कम महत्वपूर्ण है। किन्तु हम अन्त के संप्रदित प्रयोगों को देखने से स्पष्ट होता है कि वे पूर्वार्ध में प्रारम्भ प्रयोगों के अध्ययन पूर्व संपादन में उचित रहे। पूर्वार्ध में उन्होंने १२ प्रयोगों का संपादन किया।

वर्षप्रथम १८८० ई० में मुद्रासार प्रथम भाग का संपादन हुआ ।

१८८१ में दूसरा कवि-कृत 'अविश्रुत कर्मपरत', सुन्दरकृत 'सुन्दर गंगार' तथा ब्रह्मदत्त कृत 'दीप प्रकाश' प्रकाश में आए ।

१८८३ ई० में सुप्रसन्न कृत 'नक्षत्रिक' एवं अश्वमेध बाजपेयी कृत 'हस्तीर हठ' का संपादन अर्द्धवि उपस्थित किया ।

सन् १८८४ ई० में पं० अश्वमेध बाजपेयी कृत 'रसिक विनोद' तथा समस्वापूर्ति' भाग १ का प्रकाशन हुआ ।

१८८५ ई० में कन्नड कृत 'दासीपते कन्नड' तथा कृपाराम कृत 'द्विदत्त गिनी' प्रकाशित हुई ।

सन् १८८५ ई० में कैलाचरस कृत 'नक्षत्रिक' तथा बनारस कृत 'सुबान-सागर' का संपादन हुआ ।

संपादित ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि रत्नाकर जी साहित्यिक क्षेत्र में पर्याप्त करने के साथ ही प्राचीन ग्रंथों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन ज्ञान-खंड के लिए करते थे । इसी गहन अध्ययन के फलस्वरूप उनकी रचनाओं में रसिकता एवं मस्तिष्क की प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय हुआ है । स्पष्ट रूप से उनके संपादित ग्रंथों पर दृष्टिगत करने से ज्ञात होता है कि जगमें अधि-कृतता 'नक्षत्रिक', अश्वमेध राम आदि संवदी पुस्तकें ही हैं । अश्वमेध बाजपेयी का व्यापकत्व पर पूरा अधिकार इसी गहन एवं गम्भीर अध्ययन के फल स्वरूप सत्य हुआ ।

वद्यपि सन् १९०३ से १९१८ ई० तक रत्नाकर जी का कोई दोस काबे इमार समय उपस्थित नहीं होता किन्तु निरन्तर ही उस काल में रत्नाकर जी ने पर्याप्त कृत्यों की रचना की थी जो उनके निम्न कथन से स्पष्ट है :—

'सन्वत् १९०८ के आरम्भ में मेरा एक बहुत बड़का दरिद्रता में जोरी पला गया, जिसमें अन्वत्य सामग्री के साथ मेरे कवियों की एक चौपटिया भी जाती रही, इसमें ५०० से ऊपर कविता थे ।'—विवेकानन्द, उद्धृतकृतक ।

इससे स्पष्ट है कि सन्वत् १९०८ मार्च १९११ ई० के पदसे अर्थात् अयोध्यावास में भी वे कविता की रचना जब तक किया करते थे ।

### उत्तरार्द्ध की रचनाएँ

रत्नाकर जी की दृष्टि से रत्नाकर जी के रचनाकाल का उत्तरार्द्ध विंशति महा-पूर्व है । लगभग १०, १८, वर्ष विस्तृत मौखिक रूप से बाद रत्नाकर जी का

साहित्यिक क्षेत्र में पुनः आगमन हुआ और फिर वे जीवनपर्यन्त साहित्य सेवा में रत रहे। उनकी काव्य-कृतियों की एक ग्युल्ला-सी बँध गई तथा समय-समय पर पत्रिकाओं में उनके लेख भी प्रकाशित होने लगे, जिससे उनके विचार बाने जा सकते हैं। उनके जीवन के अंतिम वस वर्षों की ही उनके रचनाकाल का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

सन् १९१६ में 'समाप्तोचनादुरा' का प्रकाशन हुआ। १४ मई १९२१ ई० की गंगाधरदास की रचना आरम्भ हुई तथा १९२३ में समाप्त हुई। सन् १९२२ ई० में ठिथियों तथा शरों की मिथाने की सुगम रीति, नामक छंद तथा गङ्गा-कहरी, के रूप कल्प प्रकाशित हुए। स्पष्ट है, कहरी प्रब की रचना आरम्भ हो चुकी थी तथा "महाराज शिवानी का एक भया पत्र" छेक मा० प्र० पत्रिका में प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ ई० की मासुरी में शारदाछन्द के छन्द प्राप्त होते हैं। सन् १९२४ ई० में बागरी-मन्थरी-शिविका में "रोका कल्प क बचन", "छन्दस्य का एक शिखाछेक" तथा छन्दस्य का एक नया शिखा छेक" प्रकाश में आए।

१९२५ की मासुरी में शिविराछन्द के २ कल्प, शारदाछन्द व शारदा-कन्दर्प, ज्वालाशुची के ३ कल्प, तथा शरद बर्षान प्रकाशित हुए।

२१ दिसम्बर सन् १९२५ ई० में वे प्रथम पब्लिश भारतीय कवि सम्मेलन के समापति के रूप पर प्रतिष्ठित हुए तथा इस पत्र से दिया गया भाषण सुस्तिकामकर हुए। मासुरी में बही भाषण १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ।

१९२६ की मासुरी में "व्यैशम्पयान" "नन्दनन्दन", "कुबीचीपटा" भाषि कृतियों प्रकाशित हुई। ९ दिसम्बर १९२६ को इलाहाबाद में होने वाले अर्टे जोरिपत्रक कॉमेस में रत्नाकर की ने इच्छिय में भाषण दिया, का अन्त्य के भाषण नाम से प्रकाशित हुआ।

१९२७ की मासुरी में अद्वैत"गोपी संवात्, पञ्चबाणक" के कल्प, हरिवासी" मैलासी तथा पावस" मनोद नामक कल्प उद्घुत हुए।

१ मासुरी, १९२६, । २. माग २, पृ० १४९, । ३ नवम्बर के ३ अंक में ।  
 ४ माग ३, पृ० ७५, । ५ माग ३, पृ० २०६ । ७ २१ जनवरी, पृ० १ ।  
 ८ २८ जुलाई । ९. २४ दिसम्बर । १० अक्टूबर, पृ० ४३३ । ११ १४ मई,  
 पृ ४३३ । १२ २५ अगस्त । १३. २९ नवम्बर । १४ १० जनवरी १९२७  
 १५ फरवरी १९२७ । १६ अगस्त १९२७, । १७ ५ जुलाई १९२७ ।



सन् १८९० ई० की वा० प्र० पत्रिका में बिहारी की जीवनी, एक ऐति-  
हासिक पापाचार्य की प्रति, तथा एक प्राचीन सृष्टि, नामक लेख बने।  
समय-समय पर प्रकाशित रत्नाकर की के विभिन्न कर्मों से अनुमान होता है  
कि विभिन्न कालों की पूर्ति १८९२ से ९० तक हुई।

१८९८ में मासुरी में उदय की विद्या, उदय का अन्वयसम्बन्ध गङ्गा-  
गीर्ण तथा प्रभात की साहित्य सुधा प्रकाशित हुए।

सन् १८९३ ई० को अरकली में विनय के दो पद तथा विद्याभारत  
में शारदा सृष्टि, रत्नाकर के दो कर्म तथा अमिमन्सु कविता बनी।

सन् १८९८ की मासुरी में श्री ईश्वर कवि का शिवालय, वा० प्र०  
पत्रिका में बिहारी सतसई सम्बन्धी साहित्य तथा समुद्रपुत्र का पापाचार्य  
नामक लेख प्रकाशित हुए।

सन् १८९६ ई० में उदयकण्ठक प्रकाशित हुआ। मासुरी में कवि शोपदि  
विहारी के कर्म प्रकाशित हुए। वा० प्र० पत्रिका में बिहारी-सतसई  
सम्बन्धी साहित्य तथा साहित्यिक ज्ञान-भाषा तथा उसके व्याकरण की  
सामग्री नामक लेख आए।

२१ मई १८३० को बीठरों अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन  
के सभापति-पद से उम्होंने भाग्य लिया। १८३१ में रत्नाकर की सुरदागर  
के सम्पादन में लगे हुए थे। मई १८३१ के किलास भारत में रत्नाकर की का  
विश्व 'विश्व संकल्प' में श्रीर इसी वर्ष 'मासुरी' नामक पद भी प्रकाशित हुआ।

रत्नाकर के उत्तरार्द्ध में केवल दो प्रयोग का सम्पादन-कार्य हुआ, किन्तु  
उनकी महत्ता पूर्णतः में सम्पादित प्रयोगों से निरन्तर ही अधिक है। 'बिहारी  
रत्नाकर' का सम्पादन कार्य १८३२ ई० में समाप्त हुआ। सा-समाप्त बचन  
सर्ग तक पूर्व तथा अष्टम सर्ग का तीन चौथाई भाग ने सम्पादित कर चुके थे।  
जीवन के अन्तिम दिनों में वे इसी कार्य में व्यस्त रहे। रत्नाकर की की

१ भाग ८, पृ० ८० तथा २९१। २ भाग ८ पृ० २९६। ३ वही पृ०  
२६७। ४ बनवरी, १८३८। ५ फरवरी, १८३८। ६ १८३८, पृ० ३७३।  
७ १८३८ अगस्त। ८. डिसेम्बर, १८३८। ९. बनवरी पृ० १। १० अगस्त  
११ फरवरी, १९ भाग ९, पृ० ३६, १९१ तथा ३२६। ११ वही पृ० १।  
१४ फरवरी, १८३६। १५. भाग १०, पृ० ४७३।

रचनाओं, भाषणों एवं सम्पादित ग्रन्थों को देखकर उनकी सचतोमुखी प्रतिमा का आभास मिलता है।

## रचना का उद्देश्य

काव्य-रचना कवि की हार्निक अनुभूति की चोतिक्रा है। जब कवि अपने अग्रगण्य भावों को अपने रूप में रोक नहीं पाता तब अनुभूतिपूर्वक शब्दों में वह उन्हें व्यक्त कर देता है। काव्य-रचना का मूल कारण यही कथा वा सफ़ला है किन्तु काव्य-रचना का कुछ तत्कालीन कारण अपना प्रेरणापु हुआ करती है। अपना बातावरण, कुछ राजनैतिक सामाजिक धार्मिक अपना धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों कवि को किसी विशेष प्रकार का काव्य रचने के लिए बाध्य कर देती है। उपर्युक्त परिस्थितियों से प्रेरित होकर कवि किसी विशेष प्रकार की काव्य-रचना करता है। इस सामान्य सिद्धान्त को धृष्टि में रखकर हम रत्नाकर जी के रचना-उद्देश्य पर विचार कर सकते हैं।

रत्नाकर जी कथा के बातावरण में उत्पन्न हुए तथा सम्प्रदाय के बातावरण में बड़े हुए थे। उनके लिए जीवन में जीविक्य की समस्या कभी विषय नहीं हुई, फिर भी एक स्वाभाविकी व्यक्ति के समान वे जीविकोपार्जन से किरत भी नहीं हुए। आशागढ़ और भयोद्या के दरबारों में रहते हुए उन्होंने अपने साहित्यिक बातावरण को बचाए रखा। राजदरबारों में रहने के कारण उन्हें बैसाब और विहास आमोद-ममोद इत्यादि का बातावरण ही सदैव उपलब्ध रहा। इनका युग संश्रान्ति का युग था। नवीनता का यकाल चारों ओर फैल रहा था, परन्तु माचीनता का व्यापक प्रभाव अपनी पूर्व शक्ति से जन-मान पर अधिकतर किए हुए था। काव्य के क्षेत्र में तत्कालीन कवि नवीन विचारों को ग्रहण करके भी माचीनता को झोड़ नहीं पा रहे थे। रत्नाकर जी तो अपने बातावरण तथा शिक्षा-दीक्षा में माचीनता-मेसी थे ही; अतः उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य मनोरंजन तथा आदर्श-स्थापन ही कथा बात तो अनुचित न होगा। कथा-यैम की प्रेरणा उनके गहन-सुगम कवियों से मिली। वे उन्हें भी काव्य-रचना करते थे और उन्हीं कवियों की रसिकता का चरु उन्हें भी प्राप्त हुआ था। ऐसी स्थिति में उनके काव्य का मूल आदर्श भाषाभूति की धर्मि-स्यत्रता ही कथा बाला चाहिए। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वे भारतेन्दु के विचारों एवं सिद्धान्तों को ही परिष्कृत करना चाहते थे। भारतेन्दु के 'सत्यहरि अग्र' का परम्परागत 'हरिमग्न' है, तथा उन्हीं के मध्यमि से प्रभावित

रक्षाकर जी की प्राण की रचनामें हैं। पूर्वाह्न में मुक्तक की रचना तो नहीं के बराबर है।

नवजागृति के उस युग में रक्षाकर जी नवीन जागरण की भावना से आम-मण्डित जैसे रह सकते थे वे भारतीय हरिकण्ठ के प्रचार में बैटनेवाले बाबूक के रूप में बर्दा से बिरातर नव सन्देश प्रवृत्त करते रहे। उसके अन्तस्वरूप उन्होंने भारतीय महापुरुषों का गौरवगान किया। उनके बीमाशकों में ऐतिहासिक चार्तों की यत्नक स्पष्ट होती का सफाई है। यह कदा का सफाई है कि उनकी चार्तवादी मनोवृत्ति हिन्दू राष्ट्रियता को साथ छोड़ चली है अथवा उनके धार्मिक विरवातों को साकार रूप प्रदान करने के प्रयत्न में उनके चार्तवादी को सार्थक किया। रक्षाकर जी ने 'हिंदोला' में अपनी धार्मिक भावना को व्यक्त किया है। उद्घाटनक में शून्य पूर्व योग की अपेक्षा मक्ति की तथा निर्गुण के समक समुच्च की श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। हिंदोला हरिकण्ठ कविकाशी संगीततरंग उद्घाटनक तथा पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखने वाले अष्टक उनके धार्मिक विरवातों को साकार रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रक्षाकर जी की रचनाओं का प्रमुख उद्देश्य अपने इहद्वैत राधा-कृष्ण के प्रति मक्ति-भावना को स्वास्त्यमुक्ताय कविकाशी संग से चरितार्थ करवा ही है। वे न तो किसी चार्त विरवात में पकड़न काव्य-रचना का चार्तर्त नशि गिराना चाहते थे और न उपदेश-वृत्ति प्रारथ्य करके धर्म समाज-सुधार वरिधि चार्तर्त का प्रत्यक्ष प्रचार ही करना चाहते थे। जैसे कवि कर्म की ध्याप कता को देखते हुए वे सारे तत्त्व उनके काव्य में स्वतः समाविष्ट हो गए हैं, किन्तु वे केवल उन्हीं तत्त्वों की छोड़ काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हुए, अन्वयात इनका काव्य काव्य न होकर केवल प्रचार-साहित्य मात्र रह जाता।

## कृतियों का संक्षिप्त परिचय

रत्नाकर जी की रचनाओं का वर्गीकरण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने महाकाव्य की रचना करने का प्रयत्न नहीं किया। इनके हरिश्चन्द्र तथा मंगलाचरण काव्य कबच-काव्य के अन्तर्गत ही आते हैं। इन कृतियों का संक्षिप्त परिचय वे देना अनुचित न होगा।

### १—हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र रत्नाकर जी की द्वितीय काव्य कृति है। सप्तमप्रम भाग-सार संग्रह नामक काव्यसंग्रह में इसका प्रकाशन हुआ। इस काव्य में ४ सर्ग हैं तथा आरम्भ से अन्त तक रोखा सूत्र का प्रयोग किया गया है। मंगलाचरण तथा समाप्ति-तिथि नहीं पाए गए हैं।

इसका निर्मात्र भारतम्बु के हरिश्चन्द्र नाटक के आधार पर हुआ है। यह भी कहना असंगत न होगा कि यह भारतम्बु जी के नाटक का पद्यात्मक रूपान्तर है। भारतम्बु जी ने हरिश्चन्द्र नाटक का रचना आर्यभट्टसेनर के संस्कृत नाटक 'चंद्र कौशिक' के आधार पर की है किन्तु आदि पूर्ण अन्त की घटनाओं में विद्युत् अन्तर भी है। चंद्र कौशिक के ही संस्कृत रचयों के भारतम्बु जी ने रच दिया है। आ० रामचंद्र शुक्ल ने इस एक बंगला नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अनुवाद किया है। यह बंगला नाटक भी संस्कृत नाटक चंद्र कौशिक के आधार पर ही निर्मित हुआ है।

अथर्व के रघुवर्ती राजाओं में हरिश्चन्द्र का नाम भी अग्रगण्य है। रत्नाकर जी के अनुसार हरिश्चन्द्र इस चंद्र के २८ वें राजा थे तथा रामचंद्र जी से ३५ पीढ़ी पूर्व अवतीर्थ हुए थे। इस कथा के दो रूप हैं। पहला वैदिक उपाख्यान तथा दूसरा पौराणिक। वैदिक उपाख्यान में हरिश्चन्द्र इत्याहु बंटी वेदस के पुत्र थे। हरिश्चन्द्र की १ पत्नियों थीं किन्तु पुत्र किसी के न था। उनके यहाँ बारह वर्ष पूर्वत नामक दो ऋषि थे। नारद ऋषि के आदेशानुसार उन्होंने पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से वन्य की तपस्या की। वन्य ने पुत्र तो प्रदान किया किन्तु उन्होंने उसके जन्म के पूर्व ही उसे बलि रूप में प्राप्त करने का वचन

राजा हरिकण्ठ से ले लिया। राजा हरिकण्ठ ने भावस्थितिक में विद्या समकै हुए ही पुत्र को 10 दिव बाद बलि देने का वचन दे दिया। रोहित का जन्म हुआ। राजा पुत्र-प्रेम के कर्णमूत होकर बचन पूरा न कर सके। बचन के स्मरण कराने पर दंत निकल जाने पर बलि देने का पुत्रः अन्य दाम संस्कारों के बाद बलि देने की बात बन्द कर टाकते गये। रोहित तथा हुआ और उसने अपनी बलि देना अस्वीकार कर लकड़ें छिपे प्रत्याप्त कर दिया।

हरिकण्ठ अछोदर रोग से ग्रस्त हो गये। वह समाचार श्राप होने पर रोहित पर वापस आने के लिये प्रस्तुत हुआ। किंतु वाराह ने बीच ही में द्रुम वेग में प्रकट होकर रोक दिया। 4 वर्ष के बाद सातवें वर्ष में रोहित को मंद अग्नीगर्त के परिचार से हुई। विर्यनता-कथ उसने अपने पुत्र दानश्लोप को 100 गावों के बड़े रोहित को दे दिया। रोहित उसे अपने साथ लया और बल्य को इस बात पर राजी कर लिया कि वे दानश्लोप की बलि रोहित के स्थान पर ग्रहण करें। दानश्लोप ने बल्य को प्रबंधा की। बल्य ने प्रसन्न होकर उसे भी मुक्त कर दिया। श्रीमद्भागवत में भी इसी उपस्थान की उाथा है किंतु साहित्यकारों को इस कथा में आश्रय नहीं मिला। हरिकण्ठ का चरित्र पौराणिक कथा में विचार उदा है। उसके समस्त वैदिक उपस्थान के हरिकण्ठ के चरित्र में कोई विशेष महत्ता नहीं है।

पौराणिक कथा में राजा हरिकण्ठ सत्यवादी के रूप में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किये गए हैं। उनकी सत्यवादिता एवं दानवीरता पौराणिक कथा में सीमा को पार कर गई है और वही भवि साहित्यकारों के लिये आकर्षक बन गई है। किरणामित्र एवं वारदमित्र ने उनके परीचर्य इस लीला को रचा वा। सभी पुराण इसकी कथा से एक मत हैं। केवल किरणामित्र के मिथाने का योधा बहुत अन्तर प्राप्त होता है यद्यपि पुराण में राजा हरिकण्ठ मिथाना के लिये जब में विचारण कर रहे थे। वृष में बँधी हुई मृदिकाओं के चार्त स्वर सुनने पर हीवा पहुँचावे वाले को वृता-मन्त्रा कहते हुए हरिकण्ठ भी हीने। किंतु वे लीला मात्र थी और किरणामित्र बहुत रूप में उन्हें दक्षिणत हुए, जिसके अक्षरकथन यो के काव्य का विस्तार हुआ। अन्य पुराणों में किरणामित्र स्वयं राजपत्नी में वाञ्छ राजा से एक वाचन करते हैं। हरिकण्ठ काव्य में बर्णित कथा भी पौराणिक कथा के आधार पर रचित है जो निम्न प्रकार से है—

महम सर्ग में राजाकर की ने राजा हरिकण्ठ के राज्य का वर्णन किया है। हुआ वाराह इन्द्र के दरबार में पहुँचते हैं। वहाँ अपने प्रसन्नचित्त होने का कारण इन्द्र द्वारा पूँजे जाने पर उन्होंने हरिकण्ठ की मर्तसा की तथा इन्द्र की मर्तसा

का उन्होंने समाधान किया कि वे स्वर्ग के अभिसारी नहीं हैं। किन्तु इन्द्र स्वभावतः कुछ विभ्र डाहना उचित समझ कर परीक्षा देने की बात कहते हैं। इस पर शारद की कुछ उत्साहित होकर रोपपूरा हो जाते हैं और परीक्षा को तुच्छता बताते हुए कहते हैं कि हरिरश्मि का मत स्वर्ग शारदा भी नहीं पचा सकती। इसी स्थिति पर विरवामित्र का प्रवेग होता है। शारद प्रस्थान करते हैं। विरवामित्र के पूछने पर इन्द्र भोक्षेपन तथा सरलतापूर्वक बचना बर्णित करते हैं। स्वभाव से श्रेणी विरवामित्र भी उत्साहित होकर पूछते हैं कि हरिरश्मि में ऐसे कौन से गुण हैं जो मुनियों के मन को मोहते हैं। सदाता पत्कर इन्द्र ने अपने मनोविज्ञान के ज्ञान का उचित प्रयोग करके यह दिया—

“ ————— हमरूँ तो इहि मापत ।

पै मिथ्यास्थापी औचित्य विवेक न राखत ॥

तुमसे महातुमावनि हूँ के होतें जग मीं ।

इक सामान्य गृहस्थ भूप को त्रत किहि मग में ॥३१॥

—प्रथम सर्ग

विरवामित्र का स्वाभिमान बाधित हो उठता है और वे स्वयं परीक्षा देने के सिधे प्रस्तुत हो जाते हैं।

द्वितीय सर्ग में विरवामित्र सीधे अक्षयपुरी जाते हैं। विरवामित्र द्वार पर “यहिं बन्द्य सूरज की यहिं मेघ गिरी सागर, यहिं न है हरिबन्द्य रूप को सत्य उबागर” पढ़कर और भी उत्कण्ठ हो बैठते हैं। राजा हरिरश्मि के सम्मानित करने पर वे शयना परिचय देकर सकल मही दास देने की अभिसाया करते हैं। हरिरश्मि सहर्ष देते हैं। दान-मतिहा मँगाने पर मन्त्री को सहज स्वर्ण मुद्रा दाने की आज्ञा देते हैं। विरवामित्र अत्यधिक क्रुद्ध होकर अनुचित विशेष्यों का प्रयोग करते हुए उन्हें चेतावनी देते हैं कि तनका राज-कोष पर कोई अधिकार नहीं है। अतिभिन्न समायाचना करते हुए हरिरश्मि, “बारा सुभन समेत पादि जग-हेत विदेई” कहते हैं। किन्तु बसुबा विरवामित्र की धी में किसके मन में बिड़ें। तब उन्होंने कहा—“अरि कुनेर सी त्वर धामि बन मुद्र बुकेई” किन्तु विरवामित्र अस्त देते तभी यह सम्भव होता। अम्पी शंकर के त्रिशूल पर बसी हुई है और लोक बाहर है, वहाँ बारा सुभन समेत बिककर, एक मास की अवधि में जग बुझने को कहा। एक मास में न देने पर विरवामित्र कहते हैं “ती तोहिं पुस्तनि संग सार है बरक नटेई।” मन्त्री आदि से जमा पाचना करके हरिरश्मि शीघ्र एवं

रोहिताय को लेकर हर्म-विनाश-रहित राजत्याग कर काशी के लिये प्रस्थान करते हैं।

पूर्वीय धर्म में ममता धर्मोप हीने के ही दिव विधामित्र की वृत्ति कर उन्हें अनुचित शम्भु कहते हैं। दस में व स्वयं विष्णु के लिये पुकार लगाते हैं। इस पर हीष्णा अपने करते हुए अपने स्वामी को हास-भृति प्रदान करने से मना करती है और पहले स्वयं विष्णु के लिये प्रस्तुत होती है। एक सुधीन उपत्याय के द्वारा राजा हीष्णा एवं रोहित विष्णु हैं। उच्च राजा उपत्याय के निम्न कीर्तिव्य के साथ जाती है, हर्ष विधामित्र पुत्र कुत्र होकर उपमित्य होते हैं। काशी इतिहास देने पर विधामित्र अस्वीकार करती है तब भाकारवाणी हुई। —“धिरु सव तप, मरु, श्राव तथा विष्णु मृत्युर्ह। जो हरिभद्र मुवासाहि यह मुदसा दिवार्ह।” विधामित्र अपेक्षित हो श्राप देते हैं। भाऊत से इषगव बुझी होकर गिरने लगते हैं। हरिभद्र अपने को ब्रह्म समझते हैं कि उन्हें विधामित्र ने श्राप नहीं दिया। इतने में होम-बीषारी धार और हरिभद्र को लखने के लिये प्रस्तुत हुए। हरिभद्र विधामित्र से कदया की सिखा मांगते हैं किन्तु वे नहीं पसीकते। वे हरिभद्र को चर्दरुत के ही दाव विष्णु के लिये आता देते हैं। हरिभद्र शर-मुक्त हुए। उन सुवाणी को विधामित्र नहीं बर्ण देते हैं। हर्ष राजा मरुत वर कथन-कर होने आते हैं और उपर राजा उपत्याय के चर्दो दामी-कर्म करने जाती है।

द्वितीय धर्म में, हरिभद्र की मरुत की रकवाली करते हैं। रम्याय देवी प्रकट होती हैं। उससे भी हरिभद्र अपने स्वामी के कल्याण का ही वर मांगते हैं। करालिक का वेप प्ररवा कर मर्म आते हैं और सिद्धि-मर्षि के लिये राजा से मित्रों को पूर करने को कहते हैं। धर सिद्धि, तब विधि तथा देवी-इच्छा भी हरिभद्र को चर्दोर्क देते हैं। अचारक राजा के धर्म रोग कथकने लगी। अग्रिम कथनार्ह उर्द। पूर्व सत्य पर रर रहने के लिये कुत-गुद-नप से आकरवाणी द्वारा साधपाव करते हैं।

गारी का विचार मुत्र वे उपर आते हैं। “वस देवा मुक्त देते। और पुत्र ही वसे कुतमत्र अर्कि न की।” धारि विद्या से उन्हें कुत्र धरणी-सी ही परिस्थितियों का प्रभाष होवे लगता है। उक्त र्दो के पुत्र को लॉप वे इस सिधा था। “दाय, धार पूरी कर्दिक सब धार विदारी। वारय मुन कर वे विरुत हो विद्या करने लगते हैं। अन्वपिक कुत्र के वरवा व चर्दो लगावा चारवे हैं, किन्तु सत्य विचार आते ही वे संमत् आते हैं। हीष्णा को भी धर्म-इष्णा का विचार करने पर वे केलाकनी होते हैं। तथा उमारे कथन-कर

मॉगते हैं। आकाशवाणी द्वारा हरिराज्य की प्रशंसा सुन बह बहती है, "आग्नि परत सब साक्ष आदि भय ता मिथ्या ब्रह्म ॥" हरिराज्य उसे सब बचन बहते हैं। उनके स्वर तथा आकृति से शीघ्रता उन्हें पहचान जाती है। तथा और भी उद्भिन्न हो उठती है। किन्तु राजा अपने धर्म से नहीं टिगते। वह हमें के लिये शीघ्रता अपना बसम फाड़ना चाहती है तभी पूष्पी कर्पि उठती है तथा बोर विस्मयकारी उभर होता है। अनेक बाजे सुनाई पड़ने लगते हैं, सुमनों की कर्वा होने लगती है। हरि असुरारी प्रकट होकर हाथ पकड़ लेते हैं। राजा हाथ बांध नारायण के कण्ठ पर ग्वाति प्रवृत्त करते हैं। नारायण शीघ्रता को पैसे सत्यवादी पति पाने के लिये बचाइ देते हैं। राहित उठकर नारायण को प्रशाम कर माता-पिता के चरणों का स्पर्श करता है। तब —

सत्य, धर्म, भैरव, गौरी, सिध, कौसिक, सुरपति ।  
सब आये तिद्धि ठाम प्रशंसा करत जयामति ॥

चिरवाग्नि भी जमापाचना करते हैं। इन्द्र अपनी दुष्टता को स्वीकार करते हैं। हरिराज्य ने ब्रह्मपद प्राप्त किया। नारायण उन्हें बर मॉगने के लिये कहते हैं। वे अपनी प्रजा का वैकुण्ठवास मॉगते हैं। पुनः बर मॉगने के लिये आग्रह करने पर भारत की महिमयि के लिये प्रार्थना करते हैं तथा रोहि तरण को राज्य देकर वे पत्नी सहित विमान पर वैकुण्ठ जाते हैं और पुष्पों की बर्षा होती है।

इस कथा में दान-वीरता के भाव के साथ ही कथन रस प्रधान है। इसी कारण सहित्यकारों के लिये यह पौराणिक आख्यात आकर्षण का विषय बना।

रत्नाकर जी के काव्य में कुछ किरौपताएँ भी हैं। रत्नाकर जी ने पाशों का चित्र-चित्रण अत्यधिक स्वाभाविक रूप से किया है। हरिराज्य में मानवीय दुःखताएँ भी हैं किन्तु वे सत्य पर भ्रष्ट रहते हैं, जिससे उनके रोहित की शक्ति पर विस्तार पूर्वक कौसी लगावे के लिये प्रस्तुत होने से ज्ञात होता है। रत्नाकर जी ने अन्ततः रस का बचा ही सजीव चित्रण रममाण-वर्णन में किया है। इसी सर्व में कथा धर्म सीमा पर पहुँच कर समाप्त होती है।

हरिराज्य काव्य तथा भारतेंदु हरिराज्य रचित सत्य-हरिराज्य नाटक में साम्य होते हुए भी उनमें पर्याप्त भिन्नता वर्तमान है।

१ रत्नाकर जी के हरिराज्य अत्यधिक मानव रूप में ही चित्रित हुए हैं, देवता-स्वरूप में नहीं। भारतेंदु उनके चरित्र को देव कोटि तक ले जाते हैं। जिस स्वप्न में दिव्य हुए दान को भी सत्य मानना।



२ धर्मीय से पूर्व होने पर भी हरिश्चन्द्र द्वारा भारतेंदु से गंगा को 'मागीरय नृपति पुत्रय कब' कहवाया है जो अनुचित है। किंतु रत्नाकर जी ने ऐसी मूर्ख नहीं की।

३ भारतेंदु का शैष्या-विक्षाप अत्यधिक विस्तारपूर्वक हुआ है जो सीमा को पार कर जाता है। किंतु रत्नाकर का शैष्या-विक्षाप कदम्ब-रस का सुन्दर बहाहरण है तथा विद्वज्जल स्वामयिकि कर्म में हुआ है।

४ कल्पवृक्षार अंत में अनाश चंद्रिने। भारतेंदु ने उद्ये तृतीय अंक के अष्टमि में रत्नाकर भाष्यशास्त्र की अनमिठता प्रकट की है। रत्नाकर ने इसे समाप्ति पर दिया है।

५ अर्को का अतरोत्तर द्वाय होना ही उचित है। किंतु अष्टमीशिक के भीने तथा पौर्णमि सर्ग को भारतेंदु ने जोड़ दिया है और ऐसा ही रत्नाकर जी ने भी उनके अनुकरण पर किया है किंतु रत्नाकर का चौथा सर्ग पतकता नहीं।

६ भारतेंदु के नाटक में भारत सुरपति की समा में कहते हैं—

अम्भू नरे सूरज टरै, टरै अगत व्यबहार।

पै हृद भी हरिचन्द्र को, टर न सत्य विधार ॥

किंतु रत्नाकर जी ने इसे द्वार पर लिखा दिखला कर विरवामित्र की श्रीभामि में श्रुत का अर्थ दिया है। वे लिखते हैं—

'टरहि अम्भू सूरज औ टरहि मेरु गिरि सागर।

टरहि न पै हरिचन्द्र भूप को सत्य उजागर ॥'

७ भारतेंदु ने अष्टमीशिक के श्लोकों का अनुवाद करने का प्रयास किया है किंतु रत्नाकर जी ने ऐसा नहीं किया।

८ भारतेंदु ने विरवामित्र की अन्तःपुर तक प्रवेश कराया है, रत्नाकर जी ने ऐसा नहीं दिखलाया।

९ भारतेंदु ने अष्टमी-महिमा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है किंतु रत्नाकर जी ने एक पंक्ति में ही वर्णन समाप्त कर दिया है।

१० रत्नाकर जी ने विरवदेवों की पूजा जोड़ दी है।

११ रत्नाकर जी ने श्रुत पिताच-येठमि का वर्णन समझान में नहीं किया है।

हरिश्चन्द्र काव्य में रत्नाकर जी ने कदम्ब-रस का परिपाक अत्यधिक सुन्दर रूप में किया है। यह कृति सभ्य की महत्ता का प्रकार विरलात पैशापुत्री। यह पायल काव्य का एक उत्कृष्ट बहाहरण है।

## २ गंगावतरण

गंगावतरण की रचना अकबरेखरी की प्रेरणा के फलस्वरूप हुई। रत्नाकर जी ने बड़े उत्साहपूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है। १४ मई, १९११ ई० की इसकी रचना आरम्भ हुई तथा १९२३ ई० में इसकी समाप्ति हुई।<sup>१</sup> रत्नाकर जी को पुरस्कार-स्वरूप महारानी ने २००० तथा हिंदुस्तानी एकेडमी ने ५०० रुपये प्रदान किये। रत्नाकर जी ने यह धन जागरी-मचारिणी समा, कपूरी को दान-स्वरूप दे दिया।

गंगावतरण के आरम्भ में ३ अध्याय में गंगावतरण है जिसमें क्रमशः गंगा, सरस्वती तथा राप्तेय जी की बन्दना की गई है; तदुपरान्त १३ वें सर्ग साकेत के मसिह रघुपती राजा सगर के बचन से आरम्भ होता है। कथा रोझा धनु में वर्णित है। मत्स्यक सर्ग का अंतिम धनु बरखाटा है। समाप्ति तिथि दोहा में है।

गंगावतरण की कथा आत्यधिक प्रचलित एवं प्राचीन है। वास्मीकि रामायण ही इसका आधार माना जा सकता है, जिसकी कृष्णकृत टीका की भी 'अभिज्ञ रत्नाकर' में माना है; जैसे ही श्रीमद्भागवत, दशवैवर्त-पुराण तथा पद्म-पुराण में भी इस कथा का वर्णन है। वास्मीकीय-रामायण के ३३ वें टी ३४ वें सर्ग तक इस कथा का विस्तार है। रत्नाकर जी ने स्वयं कहा है—

प्रेता भुग मुनि वास्मीकि द्वारा पारासर।

कसि में यह सुनि परिठ बाठ गौं रतनाकर ॥<sup>२</sup>

गंगावतरण के पञ्चम सर्ग की कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के चारदशे अध्याय से प्रभावित है। कहीं-कहीं रत्नाकर जी ने अपनी कल्पना की भी हीदाया है जिसके फलस्वरूप कथा में मीलितता का गई है। बटनाओं के वर्णन में आक्षेपकतामुसार प्वाप्त पूर्व समाप्त दोहों की शैलियों का प्रयोग हुआ है। वास्मीकीय रामायण में आरिष से प्रका की उपस्था की है। इससे कथा में अनात्यक्त विस्तार होता है। श्री मद्भागवत में गङ्गा जी स्वयं ही उप का

१ जी मदनमोहन मालवीय जी ने लिखा है, "१४ मई १९११ का दिन अकबरेखरी के इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, जब रत्नाकर जी ने गंगा-वतरण का कथा की रचना आरम्भ की।" विशाला माछ, बुकार्हे १९२८।  
"रत्नाकर जी और उनका गंगावतरण" लेख।

२ १२ वें सर्ग का ३० वां पद्य।

पक्ष होने के लिये उपस्थित होती हैं। राजाका भी ने मी श्रीमद्भागवत का भावार्थ महत्वा किया किन्तु क्या के अन्य स्वाम बाहमीन्दीय रामायण से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं।

गङ्गाक्षरण की कथा इस प्रकार है। प्रथम सर्ग में सगर ने, अपनी पत्नियों सहित शूद्र आश्रम में शीर्ष तपस्या की। ऋषि के आशीर्वाद से उन्हें एक राती से असमंजस तथा मूर्खता से १०० पुत्र उत्पन्न हुए। असमंजस प्रसन्नाचारी था। अतः महाराज ने उसके स्वाम पर उसके पुत्र अष्टमान की पुत्रराज बनाया और स्वयं अश्वमेध यज्ञ करने लगे। इन्द्र ने यज्ञ का धाका पुरा कर पातालपुरी में ऋषिद्वय के आश्रम में बाँध दिया। सगर के १०० पुत्रों ने उधे सम्पूर्ण पृथ्वी पर खोजा और असफल हुए। सगर स्वयं उसे खोजने जा रहे थे किन्तु गुरु ऋषि ने उनके रोक दिया।

द्वितीय सर्ग में सगर ने अपने पुत्रों को पाताल से भोजा खोज जाने का आदेश दिया। सगर पुत्रों ने जब अन्वेषण करते हुए पृथ्वी को विषम-मिथ कर डाला। जिससे सारे जीव-जन्तु वेक-मनुज आश्रुत हो उठे। अन्त में पृथ्वी जोरते हुये ऋषिद्वय के आश्रम में पहुँच कर और बोधे को बर्हो पाकर उन्होंने ऋषि को दुर्भाग्य कहे; जिसके पक्षस्वरूप ऋषि की श्लेषात्रि में पक्ष कर उन्हें भयानक हाँकाया गया।

तृतीय सर्ग में बहुत समय बीतने पर सगर के आशानुसार अष्टमान अपने पितृव्यों को खोजने निकले। बहुत कुछ खोज के उपरान्त उन्हें गन्ध के द्वारा उनके मस्म होने का समाचार मिला। वे बहुत खुशी हुए। गन्ध ने कहा कि ऋषिद्वय कोप के कारण ब्रह्मजन्म ही उनके पुत्रों का उद्धार कर सकता है। उन्होंने गंगा की महिमा का गान किया।

चतुर्थ सर्ग में, गन्ध के द्वारा गङ्गा की महिमा तथा स्वरूप का गान है और उनके ब्रह्मजन्म रूप की इस प्रकार व्याख्या है—देवताओं के द्वारा शपाकुण्ड का मेघ-पूर्वक गुण-गान और उससे प्रवित होकर शपाकुण्ड का जन्म-रूप होना पुत्रों देवताओं की स्तुति पर जारी रूप गंगा के सहित प्रकट होना तथा गङ्गा का शपाकुण्ड के विषह में बहिन हो जाना। उनके उपरान्त गन्ध ने अष्टमान को पृथ्वी पर गङ्गा के जाने का आदेश दिया।

पंचम सर्ग में अष्टमान जब सहित बीठता है। यज्ञ पूर्ण होता है। सगर गंगा-प्रतिष्ठा के लिये तपस्या करते हैं। उनके उपरान्त अष्टमान फिर उनके पुत्र निर्वाण गंगा के लिये तपस्या करते हुए अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और इसके उपरान्त मंगीरय गंगाक्षरण के लिये तपस्या आरम्भ करते हैं।

चतुर्थ सर्ग में, भगीरथ का शौकरव-पान-गमन, उनकी शीघ्रता तथा, कृष्ण का प्रसन्न होना और भगीरथ का उनसे गंगा मांगना बर्णित है। शंकर जी ही गंगा को अपने माथे पर समाप्त करते हैं, अतः शंकर जी की तपस्या करने का निर्देश पाकर भगीरथ उनकी तपस्या में लीन हो जाते हैं। शंकर जी उन्हें गंगापारण करने का वरदान दे देते हैं।

सप्तम सर्ग में भगीरथ की प्रार्थना पर द्रुपद के द्वारा गङ्गा का पृथ्वी पर झोका जाना, उनके उतरने का विद्युत् बर्षन, भगवान् शंकर द्वारा अपनी जटाओं में गङ्गा को धारण करना तथा जटाओं में ही उनका लुप्त हो जाना बर्णित है, जिसके फलस्वरूप भगीरथ को पुनः किंता उत्पन्न हो गई।

अष्टम सर्ग में भगीरथ द्वारा गङ्गा की प्रार्थना तथा भगवान् शंकर द्वारा कृष्ण का गंगा को पृथ्वी पर झोका बर्णित है। भगीरथ की कामना पूछ होती है और वे गंगा का पक्ष-प्रदर्शन करते हुए आगे-आगे चलते हैं। मार्ग में राजर्षि बह्म, पशु-सामाग्री बहा देने के कारण भ्रमण में भर कर उनका पान कर लेते हैं। भगीरथ ने जब उनकी प्रार्थना की तब उन्होंने अपने शरीर में उन्हें बाहर किया।

नवम सर्ग में गङ्गा का प्रवाह और पृथ्वी पर पवित्रता तथा आनन्द उत्पन्न करनेवाला स्वरूप तथा गङ्गा के हरिद्वार तक घनेक मन्त्र की शीघ्रता बर्णित हुई जाने का बर्णन है।

दशम सर्ग में, गङ्गा के आगे बढ़ने तथा अनेक प्रकार की आनन्दमयी प्रवाह-धारा को धारण करके उनके प्रवाह तक आगमन का बयान है।

पञ्चदश सर्ग में, गङ्गा-पशुवा शत्रु, विष्णुबल, पुनार, कपरी इत्यादि लीलों से गङ्गा का प्रवाह, कपरी में गङ्गा की शोभा तथा महिमा, सरयु, सोन, कोसी इत्यादि अनेक सरिताओं के साथ गङ्गा का सङ्गम, सुन्दरवन में आगमन और गन्धसागर के स्पर्श पर आगर-सङ्गम का बयान है।

द्वारण सप्तम सर्ग में, गङ्गा के द्वारा सगर-कुमारों के चार का प्रवाह और उनकी मुक्ति गङ्गा के द्वारा पृथ्वी के निवासियों पर कृपा का बयान और अन्त में भरत राज्य के रूप में भगीरथ के पिताओं के द्वारा कल्याण-कामना है।

अष्टोदश सर्ग में, भगीरथ द्वारा गङ्गा-स्नान, गङ्गा-स्तुति तथा गङ्गा के द्वारा संसार के कल्याण का आशीर्वाद है। इसके उपरांत भगीरथ का मन्त्र-वचन, सिंहासन-प्रदण, आनन्दोत्सव तथा अन्त-समाप्ति है।

बाल्मीकीय रामायण में भी सगर के पुत्रों द्वारा भूमि का लोका जाना, देव-पुत्रों का प्याकुल होना, द्रुपद के द्वारा यह भविष्यवाणी कि सगर-पुत्र

कविस्त इत मस्म किये जाएंगे, वर्णित है। रत्नाकर जी ने भी इसे प्रहस्य किया है। फिर गद्य के द्वारा अर्धमात्र को यह परामर्श कि गद्या ही उनके पितरों को मुक्त करेगी और गद्य को पृथ्वी पर खाने की मेरवा गद्य द्वारा ही वास्मीकीय रामायण में भी वर्णित है। गद्गाक्तरण का वर्णन भी अनेक स्थलों पर वास्मीकीय रामायण के वर्णन से प्रेरित है। वास्मीकि का वर्णन सूत्र रूप में हुआ और रत्नाकर जी ने इस विस्तारपूर्वक अपनी प्रतिभा के आधार पर मानवीय वातावरण लेकर चित्रित किया है। इसी में इनकी प्रतिभा तथा कला के वर्णन होते हैं।

अब तक मन्त्र-माया में कोई भी सुन्दर तथा मौलिक प्रबंध-कल्प्य प्रस्तुत न हुआ था। मेमसागर, सुखसागर मन्त्र-विज्ञान विषय की दृष्टि से तो मन्त्रमायिक वे किन्तु काव्य-सौंदर्य इन्हीं में था। मन्त्र सन्तुष्टि एवं सर्वगुण-सम्पन्न मन्त्रमाया का सफ़ल काव्य गद्गाक्तरण ही है। इसके आगम्य से मन्त्र-माया-मेसी आत्मन्-विमोह हो उठे और उसी हर्षातिरेक में उन्हें यह महात्म्य भी प्रतीत होने लगा। श्रीमद्भक्तान्त ऋषिदेवी जी ने कहा है "सर्वबंधो महात्म्यम्" आदि के अनुसार गद्गाक्तरण महात्म्य की श्रेणी में आता है।<sup>१</sup>

इन्द्र-शक्त के समान ही यह रत्नाकर जी की उत्कृष्टतम प्रबंध रचना है। इसमें शक्ति और तथा कथ्य रसों का सुन्दर सामंजस्य है। क्या में आरम्भ से अन्त तक एक उत्साहपूर्ण प्रवाह है जिसमें और रस की ही प्रभावता मानना उचित मानी होता है। कई स्थलों का वर्णन अत्यधिक कला एवं कीर्तनपूर्ण हुआ है। लक्ष्मण सर्ग में गंगा जी के उतरने का वर्णन बड़ा ही रूपमार्ही है।

हिंदी-साहित्य में कलात्मक कर्णों का अभाव-सा रहा है। रामचरित मानस, पद्मावत, मत्स्य-व्रमण्टी तथा गुमान कवि के वैदिक-चरित आदि कुछ कलात्मक कर्णों की परम्परा में गद्गाक्तरण भी सुन्दर कलात्मक कर्ण रूप में है। रत्नाकर जी के लेखों में संगीतमकता का समावेश अथ पूर्व तात्पर्य में रहता है। रत्नाकर जी पर विहारी का पर्याप्त प्रभाव था। गद्गाक्तरण में भी विहारी के मुद्राचित्रों तथा शब्दों का प्रयोग हमें स्वात-स्वान पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ सुमयी, टिक हीरक, धाम आदि। जहाँ-तहाँ विहारी, पद्माकर एवं म्हाक कवि के भाव भी आ गए हैं, किन्तु इन मार्गों में रत्नाकर जी ने मनीमता का पी है।

रत्नाकर, बन्धुवास के रोहा छद्म से बिलने प्रभावित हैं उतने ही पद्याकर की ब्यास-शैली से। रोहा छद्म के बंधुवास, ब्यास-शैली के सबसे बड़े कथाकार पद्याकर तथा समास-शैली में अद्वितीय विहारी माने जाते हैं।

गंगावतरण के विषय में श्रीमदनशाह जी चतुर्वेदी ने लिखा है, "ब्रह्म-भारा के निरादर का पुग बीत गया, अब उसके अन्धुदय के दिव आनेवाले हैं और गंगावतरण इस दृष्टि से पुगांतकारी प्रण्य कहा जा सकता है।"<sup>१</sup>

नि-सन्देह यदि मदनशाह जी चतुर्वेदी की आठा पूरा होती तो गंगावतरण पुगांतकारी प्रण्य होता, किन्तु अब है कि ब्रह्म-भारा का अन्धुदय न हुआ और गंगावतरण पुगांतकारी प्रण्य न बन सका। किन्तु कहीं बोधी के इस पुग में विरोध की उपेक्षा से किसी प्रण्य की महत्ता कम नहीं होती। पुग बढ़स गया है किन्तु गंगावतरण का स्थान अब भी ब्रह्म-भारा के श्रेष्ठतम प्रण्यों में है। हिंदी-साहित्य में नाद-व्यञ्जना की दृष्टि से यह अद्वितीय प्रण्य है। नाद-सौंदर्य का सर्वत्र हम कथा के अन्तर्गत करेंगे।

१ किराला मारुत पुगाइ १६-२८। मदनशाह चतुर्वेदी, लेख गंगावतरण पृ० १०८।

# निर्वन्ध काव्य

## १ हिंदोला

हिंदोला रत्नाकर जी की सचप्रथम काव्य-कृति है जो सन् १८९४ में प्रकाशित हुई। सर्वप्रथम बगलही तथा एक दाहे में मङ्गलाचरण है पुनः २ • राधा भानों में मुख्य विषय बर्णित है। मूला एक द्युम-धार्मिक पर्व रूप है। गोपालमन्दिर में मूला का धरप रोजर ही रत्नाकर जी के रूप में भगवान् को अपनी काव्य-कल्पना में सुखावे की उत्कृष्ट अभिप्राया वापुठ हुई थी।

हिंदोला में संयोग-मञ्जर का चित्रण है। इस रचना में रत्नाकर जी ने अपनी दार्शनिक एवं धार्मिक भावनाओं का समावेश किया है जिससे काव्य गत मङ्गल-वर्धन मञ्जर मात्र न रह कर अन्वयम की ओर अग्रसर हुआ है। उनके दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों का विवरण हम आगे करेंगे।

रत्नाकर जी रीतिकालीन कवि होते हुए भी अलग थे। भक्तिवर्दीय कवियों में वे नन्ददास से पर्याप्त प्रभावित थे। हिंदोला में नन्ददास के रास पञ्चा-प्यायी की रास छाप है तथा दोनों में पर्याप्त साम्य भी है।

नन्ददास हुए 'रास पञ्चाप्यायी' भी राधा कृतों में है और हिंदोला भी। रास पञ्चाप्यायी और हिंदोला दोनों में ही गोप-सतनाओं एवं कृष्ण का चित्रण बृन्दावन में हुआ है। नन्ददास ने अपने साम्प्रदायिक विचारों की यथार्थता सिद्ध करने की चेष्टा की है किन्तु रत्नाकर जी ने इसके द्विपे कठोर प्रयास नहीं किया। यद्यपि उनकी साम्प्रदायिकता इस कृति में परिलक्षित है। रत्नाकर जी ने माधुर्य भाव की पूर्ण अभिव्यञ्जना कर ही है और उसे पढ़कर औद्योतर अमन्द की प्राप्ति होती है। रत्नाकर जी भाव एवं भाषा में नन्ददास के समान हैं। रत्नाकर जी की यह प्रथम कृति थी और नन्ददास का रास पञ्चाप्यायी उनकी प्रिय-कृति अतः उससे इसकी कला की तुलना उचित नहीं, किन्तु फिर भी रत्नाकर जी नन्ददास की कला से किसी भी पक्ष में कम नहीं। यह हरप-चित्रण ही है अतः यह निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत ही आता है।

## २ कलकत्ता

कलकत्ता की रचना की प्रेरणा इन्हें हरिद्वन्द्व काव्य की रचना के समय ही हुई थी। भारतेन्दु की ने अपने सत्य-हरिद्वन्द्व वाक्य में कलकत्ता का वर्णन अपने पिता के ७ सर्वोत्तम तथा अपने १९ वृत्तों में किया है किन्तु रत्नाकर की ने केवल दो पंक्तियों में ही कलकत्ता-वर्णन किया है। अपनी जन्म-भूमि के प्रति अपनी आसक्ति की वे व्यक्त करने के लिये आहुत हो उठे और कलकत्ता की रचना हुई। यद्यपि रचना-काल ज्ञात नहीं है तथापि हरिद्वन्द्व के बाद ही इसकी स्थापना होना उचित मनीत जाता है। बहुत समय तक वे हरिद्वन्द्व के साथ ही इसकी रचना करते रहे और इसी कारण इन्होंने अपने हरिद्वन्द्व काव्य में कलकत्ता का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया। यादू स्वामिसुन्दर दास ने अपने रत्नाकर में कलकत्ता को हरिद्वन्द्व काव्य के उपरांत ही स्थापन दिया है। कलकत्ता का विस्तार १७१ वृत्तों में है तथा १७२ वें श्लोक में तीन ही पंक्तियाँ रह गई हैं। पता नहीं क्यों चौथी पंक्ति नहीं जोड़ी। इसके जीवन काल में यह प्रकाश में न आया था। यह केवल वर्णन मात्र है। प्राचीन नाम गिनाने की पद्धति में इसकी रचना हुई है। यह इस बंद से स्पष्ट है—

वासमती श्री माघ रमुनियां बाल सर्वोरी ।  
 कड़ी पकौरी परी कर्षोरी मोहन वारी ॥  
 इधि मीने बरवरे वरी सह साग निमोने ।  
 पापर अस्ति परपरे अने परपरे सलोने ॥१५८॥  
 नीयू आम अनार अम्ल मीठे रूषिकारी ।  
 अटनी चटपट अरस सरस लटपट तरकारी ॥  
 मोदक मोतीपूर जाल-जुत मालपुषा घर ।  
 मेधामय श्रीलण्ड केसरिया श्रीर मनोहर ॥१५९॥

ऐसे वर्णन में कवि की दृष्टि बहुशता ही परिलक्षित होती है। क्रमशः, सरल एवं दार्शनिक अनुभूतियों का इसमें सर्वथा अभाव है। यद्यपि कलकत्ता का इसमें किण्व एवं अमान्यपूर्वक वर्णन है फिर भी रसोद्रेक करने में पूर्वाह्वय से यह समर्थ नहीं। किन्तु वर्णन की विदग्धता के कारण नीरसता भी नहीं उत्पन्न होती। रत्नाकर की का यह एक शुद्ध निबन्धात्मक काव्य है।



## ३ समासोचनादर्श

सर्वप्रथम इच्छा प्रकटन वा० प्र० पत्रिका के प्रथम वर्ष के तृतीय अंक में हुआ था। ग्रन्थ के आरम्भ में यह अनुवाद मात्र है, पुनः रत्नाकर जी ने तत्कालीन कवियों तथा समासोक्तियों की विवेचना की है।

यह काव्य-कृति मौखिक नहीं है। मस्युष्ट पोप के 'प्रेसेज ऑल इन्डियस' का अनुवाद है। यद्यपि अनुवाद में भारतीय कवियों के नाम रख दिये गए हैं। भरत वात्सीकि, कपिलिदास श्रीहरं पंडितराज जगन्नाथ, दुर्गादेव, पद्माकर बिहारी शास्त्र डाकुर, नागेश भट्ट केतकरास भारतेंदु इत्यादि नामों का उल्लेख कर दिया गया है। इस प्रकार यह पूर्ण रूप से भारतीय साहित्य में आबूझा गया है और मौखिक कृति न होकर अनुवाद में ही मौखिकता है।

रत्नाकर जी ने केवल यही ग्रन्थ अनुवाद किया है। अनुवाद की दृष्टि से यह पूर्ण सफल कृति है। अनुवाद साधक करने का उद्योग किया गया है तथा पोप के सिद्धांतों का ही इसमें स्पष्टीकरण हुआ है। रत्नाकर जी ने समासोचना में पोप के सिद्धांतों को ही आधार माना है। तभी इसका नाम समासोचनादर्श रखा। रत्नाकर के युग में पाश्चात्य साहित्य का पर्वत महत्व था। सर्वप्रथम रत्नाकर जी ने ही हमें पाश्चात्य समासोचना सिद्धान्तों से परिचित कराया। श्रीवाप्तोष के शब्दों में "पाश्चात्य समासोचना-सिद्धांतों से परिचित कराने का श्रीगणेश रत्नाकर जी द्वारा हुआ।"<sup>१</sup>

अतः रत्नाकर जी के इस अनुवाद का हिंदी-साहित्य के इतिहास में पर्वत महत्व है। कल्याणी की पुस्तक 'पिरेथ-साहित्य' इसी साहित्य की दूसरी कपी है।

## प्रबन्ध मुक्तक

### उद्भवशतक

यह कवि की मार्मिक अनुभूतियों की कलापूय अभिव्यक्ति की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसकी रचना क्रम से नहीं हुई है। रत्नाकर जी उद्भव-गापी-सबाहु सम्बन्धी जब तक दो-एक छंद लिखा करते थे। भूमिका में रत्नाकर जी ने लिखा है सम्बत् १२०८ के आरम्भ में मेरा एक सन्तूक हरिद्वार में जोरी बसा गया, जिसमें अन्यान्य सासुग्री के साथ भरे कब्रियों का एक शीपतिया भी बसती रही। उसमें ५०० से ऊपर कब्रित थे। इन्हीं में उद्भवशतक के कब्रित भी सम्मिश्रित थे। उसमें स दो बाईं सौ कब्रित हो ज्यों के त्यों स्मरण करके दूसरी शीपतिया पर लिख दिये गये"। \_\_\_\_\_ ।<sup>१</sup>

उद्भवशतक को अमर गति-परम्परा में ही रखा गया है। यद्यपि उद्भव-शतक में अमर का संज्ञक शेषमात्र नहीं है, केवल एक छंद में गुणगुण यन्त्रि उपस्थित ही गई है, तथापि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ३१ वें तथा ३० वें अध्यायों के आधार पर उद्भव-गापी-सबाहु को अमरगति कहा गया है। पुरवास बंधुवास हित हुन्दावन दास, रीर्वाँनरेण रघुराज सिंह, सत्य-नारायण 'कबिराल' आदि की रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। देव मतिराम, पद्माकर आदि ने भी इस परम्परा पर कल्प्य रचे। इसमें ११८ घनाक्षरियाँ हैं। यद्यपि इसमें एक-एक छंद का पूषण्ड अस्तिव्य एक महत्व है तथापि क्रम-बद्ध समष्टि क्रम में इन छंदों में क्या-सबाह भी प्राप्त होता है। उद्भव-शतक कल्प्य की क्या को रत्नाकर जी ने निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया है।—

१ उद्भव का सपुरा से ब्रज जाना। कल्प्य के विभाग का चित्रण है।  
२० छंद।

२ उद्भव की ब्रज-यात्रा। ३ छंद।

३ उद्भव का ब्रज में पहुँचना। १ छंद।

४ उद्भव के ब्रज-जारियों से बचन। ४ छंद।

१ उद्भवशतक की भूमिका।

५. उद्बोध के प्रति गोविन्दों के वचन । १३ पं. ।  
 ६. उद्बोध की आज विद्वान् । ५ पं. ।  
 ७. उद्बोध का मसुरा खीटना । ६ पं. ।  
 ८. उद्बोध के वचन श्री भगवान् प्रति । ६ पं. ।

इस प्रकार शीर्षकों को देखकर भी बड़ी निम्न होता है कि सम्पूर्ण शीर्षकों से क्या भी छवि की गई है। उद्बोधक में कवि ने अपनी धार्मिक भावना को व्यक्त किया है। इसमें निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। उद्बोध का निर्गुण मन्त्र की उपलब्धि करने का सगुणदेश गोविन्दों के अज्ञान-भक्ति-पूर्व विरासत के समक्ष विरयक सिद्ध होता है। स्वयं उद्बोध, कृष्ण को संवेत न देना होता तो कहीं आज में ही कुटी बनाकर रहते:—

प्रायत कुटीर कर्तुं रम्य समुना के शीर  
 गौन रौन-रेती सौ कबापि करते नहीं ।

कह 'रतनाकर' विद्वाह प्रम-गाथा गूढ,  
 जौन रसना में रस और भरते नहीं ॥

गोपी म्नास बालनि के समकृत व्योसु वेलि,  
 सखि प्रसयागम हूँ मैकु डरत नहीं ॥

होती पित्त भाव जौ न राबरे चिठापन करे,  
 तजि ब्रह्म-गौर इतै पाँव भरते नहीं ॥११॥

निर्गुण की बड़ी पराक्रम रत्नाकर की के सगुणभाव की किरीयता है और बड़ी उद्बोधक की महत्ता है। रत्नाकर की ने ज्ञान-भक्ति, निर्गुण-सगुण के प्राचीन संघर्ष को कक्षागत रूप में चित्रित कर भक्तिपूर्वक सगुणोपासना को श्रेष्ठता प्रदान की है।

धूर की भक्ति-भावना सगुण की एक अद्वय है। जो अज्ञान ही उद्बोधकर लट-पाद को बहामय कर देती है। मन्त्र भक्ति की जहाँ बंधनों के लट की लोक असीमित हो जाती है और ज्ञान एक एक गम्भीर पूर्व गहन वर्धित है जो लट पर स्थित है, वह भक्ति-लहरों के इस धारण की रोकने में असमर्थ है तथा स्वयं ही अज्ञान-लगा में लटक ही उठता है। रत्नाकर का उद्बोध-ज्ञान कही गम्भीर गहन पर्वत, योपियी की वागव लम्बव भक्ति की असीम सागत-लहरों से तरल ही उठता है। इस लम्ब की अमिम्बक्ति रत्नाकर की ने बने ही कक्षागत, अनुसृष्टिपूर्वक तथा अर्मस्पर्शी बना के की है।

“दिन्दी-साहित्य की प्रसूत एवं सर्वश्रेष्ठ विभूति तुलसीदास जी की शाल भक्ति विगुंथ-सगुंथ के इस विभेद को सम्यक् ढंग से उपस्थित करने में प्रसन्न रहें। पहले ज्ञान-भक्ति विगुंथ-सगुंथ तथा बीच-ब्रह्म में प्रभेद स्थापित किया है और बाद में भेद स्थापित कर ज्ञान से भक्ति को विगुंथ से सगुंथ को, तथा बीच से ब्रह्म को श्रेष्ठ सिद्ध किया है किन्तु इसके पद्यों से भी उन्हें ने कुछ भूलें कर दीं और तर्क भी तर्कपूर्वक न होकर व्यावहारिक-सा हो गया है।” इसके विपरीत रत्नाकर जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इस संघर्ष में भक्ति एवं सगुंथ की महत्ता सिद्ध की है। उनका तर्क परिपुष्ट है। उद्धृत किसे विभिन्नर विहित विगुंथावादी के ऊपर उद्धोक्त सगुंथ की सरसता का कैसा मार्मिक प्रभाव दिखावा है वह निम्नलिखित शब्द में व्यक्त हुआ है :—

दुख सुख प्रीतिम औ सिमिर न व्यापै जिन्हें,  
 हृदयै छाप एकै द्विजे ब्रह्म-ज्ञान-ज्ञान मैं ।  
 कहे “रत्नाकर” गौरी सोई ऊबध को,  
 धीर सघटान्यो जानि ब्रह्म के निधाने मैं ।  
 धीरे मुख-रंग मयां सिविलित अंग भयो,  
 बैन वनि दंग भयो गर गखाने मैं ।  
 पुस्तकि पसीकि पास सोपि सुरगाने कोपि,  
 जानै धौन कहति बयारि बरसाने मैं ॥२५॥

रत्नाकर जी ने राधा को प्रेम की अभिवादी देवी माना है। उद्धृत का विभिन्नर तथा भावना-हीन हृदय व्यक्तः कृष्णमय वातावरण के प्रभाव मात्र से प्रतीकृत हो जाता है। यही पापाक-हृदय उद्धृत व्यक्तः गोपिकाओं की धन्य भक्ति के साथि में उद्धृत पत्कर से सूर्यकण्ठ मदि बन जाते हैं। उद्धकी मदि-साक्या बन पही अभितम परिवर्तन है—

माठी कै बियोग जोग जटिस लुखठी लाह,  
 ज्ञान सौं सुहाग के अवाग विधवाय हैं ।  
 कहे ‘रत्नाकर’ लुखट प्रेम साथि माहि,  
 कोपि नेम संवम निवृत्ति के उद्ये हैं ॥  
 अब परि बीच लीचि बिरह-मरीचि बिंद,  
 देत सब अंग की गुक्ति कर लये हैं ।

गोमी चाप तरुन तरनि धिरन्यसि के,

उद्यम निवाम्त कान्त-मनि वनि आये हैं ॥११८॥

उद्यम-शतक में कवच रस का सरस परिपाठ हुआ है। चापि से कान्त तक विपश्चिन्ना शब्दों का ही चित्रण है। जिसमें अत्यन्त स्वाभाविक पूर्व कोमल भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। मधुमति कवच रस को ही प्रधानता देते हैं। चापि-कवि का चापि कान्त कवच-रस में ही व्यक्त हुआ था। पी० बी० चौधरी ने भी कहा है—

'Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts. शब्दों से भी अधिक कवच-रस भावना को प्रभावित करने में समर्थ होता है। उद्यमशतक में भी यही किलौपता है। उसे कितनी बार भी पढ़ा जायगा उसमें नीरसता का आभास न आने पायगा, बल्कि प्रत्येक बार नवीन अनुभूति-पूर्वक आनन्द प्राप्त होता रहेगा। प्रायः कवियों ने गोपिकाओं के वियोग-पथ का ही चित्रण किया है। किन्तु रत्नाकर जी ने कृष्ण के वियोग-पथ का चित्रण करके अपने सूक्ष्म-अधोव्यक्तिक ज्ञान का परिष्कार किया है। धूर के उद्यम गोपिकाओं के उपासक को चुप-चाप सुनते जाते हैं जो वास्तविकता से दूर जा पड़ता है। रत्नाकर का युग सर्व-मञ्जल का। अतः रत्नाकर जी ने तार्किक दृष्टिकोण ही प्रकट किया और इनके उद्यम भाव के वास्तविक जगत् के अनुकूल सिद्ध हुए हैं।

कवच रस प्रचलित होते हुए भी उद्यमशतक में गोपिकाओं के उपासक में हास्यरस का भी परिपाठ हो गया है। चाप ही कवि ने कृष्ण के सभी अंगों पर समान दृष्टि रखी है। उद्यम के प्रति गोपियों के बचन में ही १३ अनु हैं और यही प्रसंग वास्तव में सबसे अधिक मनोरंजनी होने में समर्थ है। अतएव इसी का विस्तार भी हुआ है। इससे कान्त में सौष्टव आ गया है। उद्यमशतक कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना है तथा हिंदी-साहित्य का एक अनुपम ग्रंथ है। जो जो रत्नाकर की शब्द-परम्परा के कवि थे किन्तु उद्यम-शतक की रचना के पश्चात् वे मधुमती-कवियों से भी पीछे नहीं रहे। उद्यम-शतक में दोनों परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण है। इसकी रचना से 'रत्नाकर' की प्रतिमा सफ़ल हो गई। उद्यम-शतक के रूप में रत्नाकर जी ने हिंदी-साहित्य को ११८ अनुपम रत्नों का भंडार प्रदान किया है। रत्नाकर जी की सबसे बड़ी सफलता यह है कि इतना प्राचीन विषय होवे पर भी इन्होंने इसे नया रूप प्रदान किया है। भाग्य-विदग्धता के कारण मूर्च्छितता आ गई है। रत्नाकर जी ने मजुर एवं बहीन कवियों का प्रयोग किया है। रत्नाकर जी की सबसे बड़ी

विशेषता विशेषमत्ता है और वह इस काव्य में विशेष रूप से प्रदर्शित हुई है।  
संपीठात्मकता इसकी मुख्य विशेषता है।

सुरभ्रागर का कथा-भाग अत्यंत ही बिहारी-भावपूर्ण में व्यापारिमत्ता  
के धर्मात् में कई स्थलों पर प्रस्तीकता का गर्ह है, किंतु उद्बन्ध-शतक में ये  
शेष नहीं हैं।



## मुक्तक

### सहरी प्रथ

रत्नाकर जी की मुक्तक रचनाओं में सर्वप्रथम सहरी प्रथ का ही स्थान आता है। इन सहरीयों का रचना-उद्देश्य धार्मिक ही कथा का सङ्कलन है। अन्तः सहरी में अपने इच्छेव की आत्मसुन्दरी-कथा का वर्णन धार्मिक भावना की प्रस्था से ही सम्भव हुआ है। इसका रचना-काल अज्ञात है। किन्तु २८ सितम्बर १६२९ की माहुरी में गंगा सहरी के कुछ छंद प्रकाशित हुए थे। अतः उनके रचना-काल के अन्तर्गत के आरम्भ से ही इन सहरीयों की रचना आरम्भ हुई। डा० रामदास झा 'रसाङ्क' में अपने दिग्दी सारिल के इतिहास में १६३९ में रत्नाकर के शीघ्र प्रकाशित दीनेवाले दो ग्रंथों का उल्लेख किया है। अन्तः सहरी तथा गंगा-विष्णु सहरी। रत्नाकर की रसाङ्क की के मित्र ने। अतः मित्र की बात अत्यन्त न थी। कदाचित् अपनी असमर्थता के कारण ही वे इन्हें प्रकाशित न कर सके। डा० रत्नाकरसुन्दर झा का ने अन्तः सहरी एवं गंगा-विष्णु सहरी नाम उचित ही दिये हैं। रसाङ्क की ने गंगा-विष्णु को एक ही में मिश्रित सहरी रूप प्रदान किया जा उचित भी है। कारण, दोनों की ५२-५२ छंद की सम्मिश्रित संख्या सहरी का रूप बाने में समर्थ ही है। अन्तः सहरी में १७० बनावरी तथा २९ सवैया छंद हैं। अर्थात् कुल १९९ छंद। अगमग २०० की संख्या से सहरी नाम देना उचित नहीं। किन्तु अन्तः सहरी में आई हुई ५२ समस्वा-पूर्तिवाँ रत्नाकर जी द्वारा सन्पादित समस्वापूर्ति माग २ में आ चुकी थी। अतः यदि हम अन्तः-सहरी में समस्वापूर्ति का न सम्मिलित करें ( और जो उचित भी है ) तो कुल १९९ छंद रह जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ संख्या १२-११ की समस्वापूर्ति ही प्रतीत होते हैं, अतः मारतेंदु जी ने भी इसकी पूर्ति की है। समस्वा है 'प्रथम समापन की कदाही तुम्हारे खेति।' १०० बौं छंद की समस्वापूर्ति ही जाय पढ़ता है। अतः, 'देख मत जानी यह बेस विरदा की है' समस्वा अवि-समाज इत्यादी कई की किन्तु यह समस्वा-पूर्ति-संग्रह में किसी कारणवश प्रकाशित न हुआ। १०, ५०, १०० संख्या छंद प्रकृत ही हैं। इस प्रकार

इन ९ ब्रह्मों को भी ब्रह्मण किया जा सकता है। श्लोक ११० ब्रह्म शतक का रूप पा सकते हैं। श्रद्धा पूर्ण उद्यम शतक के साध्य पर ही गंगा पूर्ण विष्णु-सहस्री को मिठाकर शतक का रूप प्रदान करने का भाव निहित प्रतीत होता है, किन्तु वा० श्यामसुन्दर ब्रह्म ने इनका 'सहस्री' के साथ नामकरण किया है।

### श्रृंगार सहस्री

नाम से ही स्पष्ट है कि यह श्रद्धा श्रुति की हृति है। आरम्भ से अंत तक श्रद्धापरिक मायनाओं का ही विविध रूप में चित्रण किया गया है। श्रद्धा रस के संयोग तथा वियोग दोनों ही पदों का चित्रण है। जहाँ वियोग-पद की भाँति है वहाँ संयोग-पद का मनोरम चित्रण भी। उदाहरणार्थ नीचे के दो ब्रह्म ब्रह्मों का सकते हैं--

सागत न नेऊँ हाय औपध सपाय कोऊ,  
 झठी म्भर फूँफूँ फधीरी परी जाति है।  
 कई 'रसनाकर' न चंरी-हूँ विन्नोकि सकै,  
 पेसी बसा मॉहिँ सो अहीरी परी जाति है ॥  
 यरौ हूँ नाम लिहँ नैननि उपारै नाहिँ,  
 आह औ करह सयै धीरी परी जाति है।  
 पीरी परी जाति है वियोग आगि हूँ तौ अय,  
 विद्वज विहाल याल सीरी परी जाति है ॥१०७॥

तथा  
 चरव चमेली बारु चम्पक वै ओप देखि,  
 होखति नवेली हूरी सदन-वागीची मैं।  
 कई 'रसनाकर' सुदुवि सुपमा की जाकी,  
 दमकि रही है दिव्य पूरव प्रतीची मैं ॥  
 मुज मरि लीनी रसदानि आनि औचक ही,  
 सरजि सरजि परी वाम लीचा-लीची मैं।  
 हिरकि रही है श्याम अंक मैं सरक मनौ,  
 भिरकि रही है विद्वु वादर-दरीची मैं ॥१०८॥

श्रद्धा सहस्री का मूल्यक ब्रह्म एक सुन्दर चित्र उपस्थित कर देता है। जहाँ नापिन्न बंधी के म्भर स्तरों से श्यामसुन्दर ही श्रद्धा-उपर ब्रह्मती है वहाँ नापिका की हृती नायक की श्रद्धाश्रया का चित्रण कर उससे मिथ्या के लिये प्रेरित



करती है, कहीं नायक नायिका का नाम सुनकर थोड़ा उठता है, तो कहीं नायिका वियोग में अंतिम साँसें गिन रही है।

होली और दिहीडोसब न गारिक भावनाओं को प्रोत्साहित करते हैं। अतः इन उत्सवों के अंतर्गत नायक-नायिका की श्रद्धाओं का बर्नन किया गया है। न गार-सहरी में रीतिकरणीय कवियों के समान उदात्त श्रृंगारिक भावनाओं का प्राचुर्य नहीं है और नकि-अर्वांग कवियों के समान प्रभावित रूप भी नहीं है, दोनों की अल्पगत चित्रताओं की सुन्दर मिश्रित भावना इसमें उपस्थित है। येन बिहारी और पद्माकर का स्पष्ट प्रभाव इन पर कबित होता है। सोकर उड़ी हुई नायिका का चित्रण इन्होंने इन कवियों के समान ही किया है। न गार सहरी का दिही-सर्पित्व में पर्याप्त महत्व है।

### गंगा तथा विष्णु सहरी

इन सहरीयों की रचना पंडितराज जगन्नाथ के सर्पित्व की प्रेरणा से सम्भव हुई है। पंडितराज ने कल्याण-सहरी, अमृत सहरी गंगा सहरी आदि की रचना की है। बलुता रत्नाकर जी पद्माकर की गंगा सहरी से भी प्रभावित हुए थे।

रत्नाकर जी में अहम् की भावना न थी। इन रचनाओं में उनकी स्वतंत्रता की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। ईश्वर नाथ से धारम-निवेदन इसमें नहीं था। अन्ती में गंगा का पर्याप्त महत्व है। अतः गंगा के प्रति अज्ञान-भक्ति होना स्वाभाविक ही था। गंगावतरण १६९१ में ही प्रकथित हो चुका था किंतु वह प्रबंध प्रदान कृति थी। उसमें कवि मुक्त रूप से अपना अज्ञान-निवेदन न कर सके थे। अन्तर्गत् पूर्ति गंगा सहरी में हुई। अतः गंगा सहरी को गंगावतरण का पूरक भावना अनुचित न होगा।

बैष्णव धर्म से प्रभावित रत्नाकर जी के हृदय हृदय पूर्व विष्णु में कोई अन्तर न था। अतः विष्णु के प्रति अज्ञान-भक्ति की भावामिव्यक्ति विष्णु सहरी में मुक्त रूप से हुई है। उसके पूर्व वास्तव भक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं।

### रत्नाटक

१६ रत्नों का भावानुभूतिपूर्ण वचन रत्नाटक में हुआ है। शारदा यक्षेण कीकृप्य, गजेन्द्र, बसुन्दा, सुदामा त्रीपदी तुलसी धर्मत धीमन्त, शिथिर, प्रमात एवं संध्या के बर्नन हैं। कृष्णायक में ६ एवं त्रीपदी में ११ तुलसी में ७ एवं हैं। किंतु ७, ११ श्रद्धों को भी अष्टक में ही कहा गया है। ६ अष्टकों द्वारा पद्म, जगु बचन, दो अष्टक संध्या एवं प्रमात सम्बंधी

तथा ८ में धार्मिक एवं पौराणिक वापकों का चित्रण है। राजाकरजी की धार्मिक भावना से ही यह ग्रन्थ प्रेरित हुए हैं। व्याख्यान आचार्य छद्म जी की प्रेरणा से प्रकृति सम्बंधी इन अर्थों पर निर्माण हुआ।

विभिन्न समयों में, विभिन्न परिस्थितियों में इसके कई प्रकृतित होते रहे, जिनका उल्लेख रचना-काल के अन्तर्गत है। उससे स्पष्ट है कि इन राजाकरजी की रचना सन् १९२३ से २० ई० तक हुई होगी। ये अर्थक काल्य एवं कला की दृष्टि से उत्कृष्ट-रचनाएँ हैं। प्रकृति-चित्रण रीति-कालीन बरिपाटी का न होकर आधुनिक युग का पुत्र सिद्ध हुए हैं। अद्वैत-संज्ञापति के प्रकृति वर्णन का प्रभाव इन पर पड़ा था। किन्तु कई स्वधों पर राजाकर जी की महत्ता स्पष्ट है।

### वीराष्टक

इसमें १३ ऐतिहासिक वीर तथा वीरायवाओं का वर्णन है। रचना-काल अज्ञात है किन्तु वीर अभिमन्यु १२२८ में विशाल भारत में प्रकृतित हुआ था। अतः ज्ञात होता है कि राजाकर के साथ-साथ वीराष्टकों की रचना भी हुई। राष्ट्रिय आंदोलनों आदि के प्रभाव से राजाकर जी की राष्ट्रियता मार्थीय वीरों के गौरव-गान द्वारा प्रकृतित हुई। इसमें श्रीकृष्ण वृत्तान्त भण्ड्य प्रतिज्ञा जब प्रथम रूप के साथ वीर अभिमन्यु, महाभारत प्रताप, द्रुपदसि शिवाजी, श्री गुरु गोविंद सिंह, महाराज दशरथ, महाराजी तुर्गावती, सुमति, बरनारायण भण्ड्य देवी, महारानी लक्ष्मीबाई आदि वीर एवं वीरायवाएँ हैं। यद्यपि इसे वीराष्टक नाम दिया गया है तथापि अष्टके में ८-८ छंद पूर्ण नहीं हैं। अतः इसे अष्टक मानना उचित मतीय होता है, कारण सुमति में १, वीर बारायण में २ तथा श्री लारायई में ३ ही छंद हैं। अत्राप्य एक तथा महा राधा प्रताप में ११ ११ वीर गुरु गोविंद सिंह में १० छंद प्रयुक्त हुए हैं।

इन वीराष्टकों में वीर रस का परिपाक पूरी सुन्दरता के साथ हुआ है। वीर रस के परिपाक में मार्थीय पद्धति के अनुसार कर्णकल्पवियों तथा संयुक्तियों का वादुष्य उचित माना जाता है, जिनके फलस्वरूप काल्य में वीर रस का परिपाक दृष्ट उचित होता था, किन्तु राजाकर जी की कृष्णता इसी में है कि इन्होंने कथ कथु लक्ष्मी को नहीं अपनाया। मधुरध्वनियों के माध्यम से ही इन्होंने वीररस का पूर्णरूप से परिपाक प्रकृत कर दिया है। इनकी मधुर ध्वनियों अलाहपर्यन्त में अष्टावक सिद्ध हुई हैं। इनके अर्थ मो अष्टावक अर्थक हैं। अत्र-मात्रा में वे वीर रस के सुन्दर अष्टावकों में दृष्टे का सन्तो हैं।

## प्रकीर्णक पद्यावली

विभिन्न समयों में विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित व अप्रकाशित छंदों को सामूहिक रूप में एक ससे वा० रघुमधुसुन्दर दास जी ने प्रकीर्णक पद्यावली नाम प्रदान किया है। कुछ छंदों का समय भी दिया गया है। कुछ छंद को विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए उनका उल्लेख रचना-काल में हुआ है। अनुमान से इसका रचना-काल भी सन् १९२५ से उनकी मृत्यु पर्यन्त माना जा सकता है। इन कुछ पद्यों में से कुछ में कवीय प्रवृत्तियों का भी संमावेश हुआ है। पदाक्षरार्थ २६ में तथा ३० में छंद गौरी जी विषयक है। ३ पुग की बात भी कही गई है। भारत शीर्षक में चापू हुए छंदों में राष्ट्रियता ही है। सम्पूर्ण पद्यावली १८ शीर्षकों में विभक्त है। श्री राधा विषय ३, श्रीकृष्ण-महिमा ६, श्रीराम विषय १, श्रीअयोध्या-महिमा १, श्रीलक्ष्मण-वन्दना ५, श्रीकृष्ण महिमा ५, श्रीहनुमद महिमा ६, श्रीहरिरचंद्र १, श्रीकल्याणुकी विषय ३, श्रीसती महिमा १, शीपक ४, भारत ४, श्रद्धि ३, अन्वेषि २, शक्ति रस १, गंगा गीरण २ और कुछ काव्य ३३ ( इनमें कुछ छंदों का समय दिया गया है ) छंद हैं। सन् १९३० से १९३२ तक का समय इसके अंतर्गत आता है। उनका अंतिम छंद २६-६-३२ का लिखा हुआ भी इनके अंतर्गत है। दोहावली में २२ दोहे हैं।

घट्टमिक विचार की उदाहरताकर इन्होंने राम, अयोध्या, शिव काशी हनुमद महिमा, सती महिमा, गंगा गीरण आदि अर्थ विषयों को अपनाया है। बिहारी के अनुकरण पर दोहों का निर्माण हुआ है। प्रकीर्णक पद्यावली में संगृहीत छंद सुन्दर सुकक छंद माने जा सकते हैं।

# नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित लेख

## साहित्यिक लेख

### १ रोला छन्द के लक्षण

यह नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका भाग ५, अंक १ में प्रकाशित हुआ था। इसकी प्रेरणा उनके हीर के आरम्भ के इस कथन से स्पष्ट है।

कम्पनी साहित्य विद्यालय (अप, मयबाजरीन साहित्य विद्यालय) ने नागरी-प्रचारिणी-सभा से पूछा था कि रोला पद्य में ११ की मात्रा पर बिरति होनी चाहिये या नहीं। सभा ने विद्यालय को यह पत्र श्रीमन् जगन्नाथराय रत्नाकर जी० ए० के पास भेज दिया था। रत्नाकर जी ने उस पत्र को जो उत्तर भेजा है, सबसाधारण की जानकारी के लिए यह नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित किया गया है।

इस कथन में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि रोला में प्राकृत छन्द के अनुसार ११ मात्राओं पर बिरति का होना आवश्यक नहीं है। इसकी पुष्टि के लिए प्रथम उन्होंने 'प्राकृत विंगस स्यात्ति' एवं कम्पनी भूयस के आधार पर विचार किया है। प्राकृत के अन्य विंगस प्रथों में रोला के लक्षण नहीं विद्ये गए हैं उदाहरणार्थ-भ्रुवकोष, दिवस स्य हत रत्नाकर इंद्रोमजरी इत्यादि। हिंदी के विंगस प्रथों में सुखद्वय का 'हृत्-विचार' तथा मास के छंदशंभ के विंगस को विद्यप विचारराम धरनापा है। रत्नाकर जी ने निष्कर्ष इस प्रकार ख दिया है:—

“रोला छंद में ११ मात्राओं पर बिरति का होना आवश्यक नहीं है पर यदि हो तो वैधो काल है।” इस लेख में उनके छंदशास्त्र का ज्ञान एवं सूक्ष्म विवेचना का धामास मिलता है।

### २. महाकवि बिहारी लाल जी की जीवनी

नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका भाग ८ में प्रकाशित यह लेख, बाबू में बिहारी-रत्नाकर की भूमिका में जोड़ दिया गया है। लेख के शीर्षक से स्पष्ट है कि यह महाकवि बिहारीलाल जी की जीवनी ही है।

### ३ बिहारी सतसई-सम्बन्धी साहित्य

यह लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के भाग ३ और १० में प्रकाशित हुआ था। लगभग २०० पृष्ठों में इस लेख का विस्तार है। सम्पूर्ण बर्ष विषय ३ शीर्षकों में विभाजित है। १ सतसई का कर्म, २ बिहारी सतसई की टीकाएँ तथा ३ बिहारी पर स्फुट लेख।

### ४ साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री

यह लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के भाग १० में प्रकाशित हुआ था, किन्तु यह रायबहादुर डा. गौरीशंकर हरीचन्द्र जोषी द्वारा संपादित कोबोल्सव स्मारक संग्रह में भी है। प्रारम्भ में शीरसेनी, फिठाची एवं मागची से ब्रजभाषा तक का विकास दिखाया गया है।

वर्ष सम्प्रदा के विस्तार के कारण विभिन्न प्रान्तों की बोलियों में अन्तर हो गया। भाषाओं के बँटव व प्रकार बने, १ शीरसेनी २ मागची, और ३ फिठाची। काष्ठान्तर में इन क्षेत्रों के प्रान्तों की बोलियों में अन्तर आया। कवियों की कृतिषों सभी प्रान्तों में पढ़ी जा सकें इस उद्देश्य से क्षेत्रों में एक-एक साहित्यिक भाषा तथा बोलियाँ बन गईं। महाराष्ट्री प्राकृत का निर्माण तीनों को मिश्रित करके किया गया। इन सब में उन्होंने शीरसेनी को ही श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण बताया है। शनैः शनैः साहित्यिक भाषा ब्रजसाधारण के लिए कठिन होती गई और अपनी-अपनी बोलियों में साहित्य-रचना प्रारम्भ हुई तथा तीन प्रादेशिक भाषाओं का निर्माण हुआ। चंद्र चरखि, इमचन्द तथा विष्णु के माह्य व्याकरणों द्वारा प्राकृत का विकास का पता चलता है। इसी व्याकरण से प्युत होने के कारण प्रादेशिक भाषाओं को अपभ्रंश कहा गया।

शनैः शनैः महाराष्ट्री प्राकृत के बँटव की एक साहित्यिक अपभ्रंश बनी जिसका मुख्य बंग शीरसेनी ही था, जिस कारण से प्राकृत से अपभ्रंश बनी उसी कारण से अपभ्रंश से भी एक प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय भाषा का निर्माण हुआ। यह भाषा संस्कृत प्राकृत-राष्ट्रीय अपभ्रंश तथा तीनों प्रादेशिक भाषाओं से मिलकर बनी थी। इसका व्याकरण भी शीरसेनी के अनुरूप था यह सिद्ध किया जा चुका है।

### बिहारी सतसई की टीकाएँ तथा बिहारी पर स्फुट लेख

राज्य की बिहारी पर एक पुस्तक तैयार करना चाहते थे। उनकी यह इच्छा जब श्रीबुद्ध रामकृष्ण जी (उनके पीठ) ने पूर्ण कर दी है। वास्तव में अचर्युक्त शीर्षक में विमल ने लेख प्रसंग-प्रसंग स्वतंत्र लेख भी हैं।

आरम्भ में एकाग्र की दृष्टे, विहारी एकाग्र' की भूमिका के रूप में विद्य रहे थे किन्तु विस्तार बढ़ता ही गया और विहारी-एकाग्र में यह प्रकाशित म हो सका। इसके विस्तार का कारण तात्कालीन देव-विहारी की श्रेष्ठता का विचार तथा उनकी ग्लेशियरसक एवं ऐतिहासिक रचि थी। साथ ही एकाग्र की विहारी को अपना आधार कवि भी मानते थे।

'सतसई के अम' में एकाग्र की ने 'विहारी एकाग्र' के अम को ही विहारी का अम सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने उन सप्त प्रतिभों की विस्तृत विवेचना की है जिनके आधार पर 'विहारी एकाग्र' में अम निर्मित किया गया है। मोहम्मदसाद की संशोधित टीका, 'मानसिद की विहारी सतसई' और आनंदी काष्ठ खोरी जी की प्रति का एकाग्र की ने विशेष महत्व दिया है। १०६ पृष्ठ के इस खेक में एकाग्र जी ने सप्रमास यह सिद्ध कर दिया है कि इन में विहारी के आत्मिक अम का ही अनुसरण हुआ है।

'विहारी सतसई की टीकाएँ' नामक खेक में उन्होंने ५३ टीकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें ससकृत गद्य-पद्य, उन् गुजराती तथा हिंदी, सभी भाषाओं में की गईं टीकाओं का सूक्ष्म-विवेचन भी एकाग्र जी ने किया है।

इन पृष्ठों में किये गए विहारी पर स्फुट खेक में एकाग्र जी ने विभिन्न समयों एवं विद्वानों द्वारा किये गए २३ खेकों का विवरण भी दिया है। एकाग्र जी ने देव के समर्थकों एवं विहारी के विरोधियों का परिचय विप्यक माध से दिया है। इससे एकाग्र जी की उदारता का परिचय मिहता है और उनके सत्समाहोचक होने में संदेह नहीं रहता।

इन प्रकार आरम्भ से ही शीरसेनी की प्रभावता रही तथा कालान्तर में अत्र में कविता का आत्मिक प्रचार बना। यह साहित्यिक धर्म-भाषा ही मुख्य साहित्यिक शीरसेनी भाषा बन गई। अष्टधातु के कवि, स्वामी हित-हरिचंठ, हरिदास जी, प्यास जी, भगवन्तसिक जी तथा विहारी और दास इस भाषा के अनुभूत कवि हुए। किन्तु तात्कालीन ब्रह्मभाषा आत्मिक दशा कल्पना आत्मभावस्था होने के कारण हीपयुक्त जी, उन्ही दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। प्यासस का अभाव था। एकाग्र जीने साहित्यिक भाषा के अनुसरण कुछ पुस्तिकाँ बनाईं।

१ प्रयोग बाहुल्य प्रहस। २ मिह प्रयोग प्रहस। ३ लोक व्यवहार प्रहस। ४ पूर्वकम। ५ आरम्भयोग परित्याग। ६ आपठयोगाहुकमक-

परिष्कार । ७ संक्षिप्त प्रयोग परित्याग । ८ सांसारिक पद का परित्याग तथा  
९ श्लोक कायक प्रयोग परित्याग ।

सूर के समय की भाषा व्यवस्थित थी और कोई नियम उपलब्ध न थे ।  
रत्नाकर जी ने लिखा है:—जितना भ्रम कवियों ने रीति-प्रयोगों के निर्माण में  
उभया, यदि उसका उदाहरण भी भाषा के सिद्धांत बनाने में उठते तो बहुत  
शीघ्र ही यह सर्वथा परिमार्जित तथा सुगुण काय हो जाती ।

रत्नाकर जी ने केदार जी भाषा को परिमार्जित माना परन्तु उसमें भी  
उच्छृङ्खलता थी । केदार के सम्कासीन कवियों की भाषा की व्यवस्था बदरी,  
किन्तु वे श्रेष्ठ कवियों के प्रयुक्त प्रमाण के कारण पहले छन्द एवं वैज्ञानिक  
प्रयोग करने में असमर्थ रहे । बिहारी जी भाषा को रत्नाकर जी ने परिमार्जित  
पुनः प्राप्त माना । उनके अनुसार बिहारी ने हृदय में सप्रतिष्ठा ब्रह्म-भाषा  
के सुन्दर स्वरूप का स्वरूप स्वरूप अमूर्तक तसी के अनुसार शब्दों के रूपों  
का प्रयोग किया परन्तु यह कार्य अत्यधिक भ्रम, गन्धर्ववाच्य तथा पादिक-  
पूर्ण था । बिहारी सतसई जैसे आदर्श ग्रंथ के रहते हुए भी व्याकरण के  
बन्धन के कारण साहित्यिक ब्रह्म-भाषा व्यवस्थित न हो सकी । बिहारी के  
परचात् आनन्दधर जी की कविताओं में छन्द ब्रह्मभाषा का प्रयोग रत्नाकरजी  
मानते हैं । इन्होंने लिखा है—

“हमारी समझ में बिहारी तथा आनन्द धर जी की कविता में कुछ  
सप्रतिष्ठा ब्रह्मभाषा का एक सुन्दर और उपयोगी स्वरूप उभार करने के  
योग्य पर्याप्त सामग्री विद्यमान है । यदि कोई व्याकरण-विरोधक इस विश्व  
में उद्योग करें तो वे उक्त भाषा के नियमों को पूर्णतया उक्त ग्रंथों के द्वारा  
स्थापित कर सकते हैं । यदि किसी ऐसे ही स्वरूप बिरोध का नियम इन ग्रंथों से  
निर्धारित न हो सकेगा तो उसके लिए अन्य श्रेष्ठ कवियों की रचना में देखा-  
यात्र करनी पड़ेगी ।”

रत्नाकर जी स्वयं बिहारी-छन्द-भाग की रचना कर रहे थे । शब्दों का  
विग्रह-अन्वय होते हुए उनका कार्य लिखने की योजना इसमें थी । इस क्षेत्र से  
भाषा-विज्ञान में उनके परिचित्य का दर्शन हमें होता है ।

# ऐतिहासिक लेख

## महाराज शिवाजी का एक नया पत्र

न० प्र० पत्रिका<sup>१</sup> में प्रकाशित इस लेख में सर्वप्रथम इसका प्रामाणिकता प्रमाणित किया गया है। बालन में रत्नाकर जी विदारी सतसई से सम्बन्धित सामग्री होकर रहे थे। जयगढ़ का नाम मुतकर विदारी के आश्रयदाता जयगढ़ के ध्यान से इस पत्र की धार प्रामाणिक रूप से। ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित होने के कारण इसे सुरक्षित रखन की इच्छा से इसे प्रकाशित किया गया। उन्होंने लिखा है:—

“इस किन्त में हमारा कई मित्रों ने भी विद्यपतः वाचू श्यामसुन्दरदास जी० प्र० ने प्रामाणिकता प्रमाणित किया। अतः एक पत्र उसके नागरी प्रतिबोध तथा भाग्य-प्रसुवादि सहित न० प्र० पत्रिका द्वारा प्रकाशित किया जाता है। प्रामाणिकता के बाद उसकी प्रामाणिकता एवं प्रामाणिकता का विचार कर मूल प्रारम्भ सिद्धि तथा श्रेयनागरी सिद्धि में प्रसुवादि दिया गया है। यह सिद्धियों के हर मन्त्रि में नामक संगति के महन्त श्री सुमेरसिंहजी साहिबसाहेब के पास से गुप्तमुखी चपरो में प्राप्त हुआ था। महाराज शिवाजी ने यह पत्र राजा अश्विद के नाम लिखा था। जीय होन के कारण इस पत्र के एक भाग शब्द व अक्षर नष्ट हो गए थे जिन्होंने पूर्व रत्नाकर जी ने स्वयं शब्द जोड़कर कर दी है। रत्नाकर जी ने इस कार्य में काफी विद्यविद्यालय के तत्कालीन प्रारम्भ-प्रामाणिक श्रीसुत मित्रों सुहन्मद इसन ‘दापत्र’ जी से पर्याप्त सहायता ली थी।

श्री दापत्र इसे प्रामाणिक किन्तु इकी प्रसाद जी प्रामाणिक मानते थे।

## २ श्रृंग शेष का एक शिलालेख<sup>२</sup>

रत्नाकर जी ने इसे हरिद्वार से भेजा था अतः उन्होंने विशेष विवेचना पुनः करने के लिए कहा था। इस लेख के साथ इस लेख की प्रतिलिपि पूर्व मुपारी

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३, सं० ११७६, पृष्ठ १५१।  
२. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग ३ पृष्ठ ६६।



प्रतिस्तिथि भी है। काशी स्त्रोत में एक यमुना द्वाप तथा दूसरा चित्र है। रत्नाकर भी वैसा पद पाये थे वैसा छर्क सहित उन्होंने लिख दिया है। नागरी-स्फार्तर भी कर दिया है।

### ३ शुंगवश का एक नया शिला-लेख<sup>१</sup>

यह पिछले लेख का पूरक है। उन्होंने लिखा है —

“इस पत्थर के गलतक में हमने शुंगवंश का एक शिलालेख प्रकाशित किया था और अपनी समझ के अनुसार उसका नागरी अक्षरोंतर तथा हिंदी अनुवाद भी दिया था। जिस मंदिर का यह लेख है उसके विचारक शुंगवंश की ऐतिहासिक तथा पौराणिक ग्रन्थियों के विषय में हमने फिर लिखने का विचार प्रकट किया था। अवस्थाभाव से हम अपना उक्त संकल्प तो पूरा नहीं कर सकते, पर इस लेख के विषय में कुछ आवश्यक बातें लिखते हैं।”

उक्त कथन से इस लेख का आधार स्पष्ट ही जाता है। इस लेख में शिला लेख के प्राप्ति-स्थान का विवरण है। शीखर के नीचे ही शब्द और प्राप्त रूप ‘धर्म बभमिनेय’ व ‘बभवेनेय’ शुंगवंश में मित्र शब्द के अन्वय के अक्षररूप रत्नाकर भी ने बभमिनेय को ही उचित माना।

### ४ एक ऐतिहासिक पाषाणाय की प्राप्ति<sup>२</sup>

काशी के संकरमोहन में एक पाषाणाय की प्राप्ति हुई थी। उसकी पीठ पर अंकित अक्षरों को प्रयास करके वे श्री ‘अश्वगुप्त’ पद पाये थे तथा अबका अनुमान था कि अश्वगुप्त द्वितीय के अक्षरों का स्मारक अक्ष होगा। इस लेख का सार्पंतर ‘इंडिया हिस्टोरिकल क्वैररी’ में भी प्रकाशित हुआ था।

### ५ एक प्राचीन मूर्ति<sup>३</sup>

अयोध्या के निकट १ फुट ७ इंच लंबी तथा १० इंच चौड़ी भी कुत्तयन्त्र की बंती सहित एक मूर्ति की प्राप्ति हुई थी। रत्नाकर भी को विचारत था कि इसी स्थान पर यदि पुराई हो तो शपा की मूर्ति भी प्राप्ति होगी तथा उन्होंने पहले प्यथ से पुराई करवाने की इच्छा प्रकट की थी।

१ वही, संस्कृत १९८१ पृ० २०६

२. नागरी-अक्षरों-पत्रिका, भाग ८, संस्कृत १९८४, पृ० २५२।

३. वही पृ० २६७।

## ६ समुद्रगुप्त का पापाणाम्बः

पृष्ठ १५ पृष्ठों का सचित्र खोल है। अजयपुर के म्यूजियम में सुरक्षित इस पापाणाम्ब की पीठ पर अंकित खेक को म्यूहर एवं स्मिय खैल बिडार्नी ने पढ़ने का प्रयास किया था और प्रीथा पर अंकित खेक को पढ़ा भी था। 'गुप्तस ऐव चम्म' तथा 'ऐव समुद्र गुप्तस ऐवचम्म' मानकर उसका धर्म 'समुद्र का धर्माधिपति' अर्थात् या किन्तु उसके पीठ पर अंकित खेक को उन लोगों ने केवल बिचकारी भाव समझा, अतः उसे बौद्धि खोब दिया था, किन्तु रघाकर जी की तीव्र दृष्टि से यह खेक सिप न सका। अपने अथक परिश्रम के फलस्वरूप वे पीठ पर अंकित खेक को पढ़ने में भी समर्थ हुए। उन्होंने उसे "धो मी अमगुप्त सिद्ध" पढ़ा था। इस प्रकार प्रीथा एवं पीठ पर के खेक प्रमथी माहृत एवं संस्कृत में हो जाते हैं। इस पर कई संक्षेप उत्पन्न होती हैं। रघाकर जी ने इस विषय पर कई सुझाव दिए हैं, जो मान्य एवं अंकित प्रतीत होते हैं। रघाकर जी की महत्ता इस खेक को पढ़ने में समर्थ होने में है। उनके मृत्यु का अनुसरण कोई करे अथवा न करे।

रघाकर जी के इन ऐतिहासिक खेकों से उनकी इतिहास के प्रति अभिसूचित तथा उनकी सूक्ष्म विवेचन शक्ति का आभास मिलता है। उस समय अंग्रेजी का बोलबाता था। यदि वे ही खेक अंग्रेजी में लिखे गए होते तो उनकी महत्ता किरीट रूप से होती, किन्तु रघाकर जी ने ना०-म०-पत्रिका में ही इन्हें प्रकाशित कर अपने हिंदी-प्रेम का परिचय दिया है। शुंग इतिहास पर इनके लेखों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

### अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्यिक लेख

#### १ साहित्य रघाकर ( काव्य निकमय खबड )

सन् १८८८ ई० में 'साहित्य सुचरित्रि' पत्र में यह सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। इसके बाद ना० प्र० सभा ने इसे पुस्तकाकार मुद्रित किया था। इसी वर्ष में सर्वप्रथम रघाकर जी ने 'काव्य-रत्नाकर' ( जो प्राचीन काव्य है ) द्वारा विचारित कारकों पर विचार किया है। साथ ही सूक्ष्म विवेचन के अर्थात् अथवा मत दिया है। समीचा-सिद्धांतों का हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम इसी काव्य के समीचा-सिद्धांतों पर विवेचन हुआ है। रीतिवादी रीतिग्रंथ संस्कृत के अर्थात् एवं आया मात्र ही थे, किन्तु रत्नाकर जी ने हिन्दी के

आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का ही खडकन-मयकन किया है। आक-  
र्यकता होने पर संस्कृतआचार्यों का भी उल्लेख किया है। शूरति मिश्र के  
'साहित्य परिचय' में दिये गए चार खण्डों को आधार रूप में लेकर पुनः  
मम्मटाचार्य पुनः कुसुमति मिश्र की परिभाषाओं पर विचार किया गया है।  
अनुर्य खण्ड के विषय में परिवर्तित जगन्नाथ तथा साहित्य-दुर्लभकार  
विरचनाओं की परिभाषाएँ ही गई हैं। रस-विगच्छ विवेचना तथा रस्य के  
खण्डों पर भी विचार प्रकट किये गए हैं। अन्त में व्यक्तिकर तथा साहित्य-  
दुर्लभ की अन्य इच्छाओं पर विचार किया गया है। रत्नाकर जी ने अपना  
मत यों दिया है —

दोष वाक्य रमणीय लो फान्य कश्चापै सोय ।

रत्नाकर खण्डाय, करत यह बहु मन्यन सोय ॥

सन् १९०० ई० में दिसम्बर मास की सरस्वती में रावराजा बा० राम  
विहारी जी ने आलोचना लिखी थी, जिसके प्रत्युत्तर में बालू राममुन्दर दास  
जी ने दूसरे मास की सरस्वती में लिखा था :—

बालू धगधग दास 'रत्नाकर' ने साहित्य-रत्नाकर (काव्य निरूपण खण्ड)  
में काव्य के पर्याय खण्डों को पूर्ण रीति से निर्धारित कर दिया है। तो फिर  
मिश्र जी का यह कहना 'काव्य का कोई खण्ड एक पद्यपि पूर्व रूप से संस्था-  
पित नहीं है' अमुचित है" ।

डा कस्मीरसागर बाबुलाल ने "शाब्दिक हिन्दी साहित्य के इतिहास" में  
इसका उल्लेख किया है। यद्यपि कितना इसका महत्व है उतना बोल देने  
मात्र ही सक्षम तथापि हिन्दी साहित्य के लिए बड़ी बृहत् मात्रा प्रत्य है।  
इसमें प्रतिपादित विषय का हिन्दी साहित्य का यह सर्व प्रथम ग्रंथ माना  
जा सकता है किन्तु फिर भी हमें पूर्ण महत्व नहीं प्राप्त है। यद्यपि भी  
मातृशिक्षु जी ने वाङ्मयशास्त्र पर 'बालक' छिपाया किन्तु इसमें प्रारम्भ-मयकन  
द्वारा विद्वान् निर्धारित करने की सीधी नहीं व्यवस्था गई थी। किन्तु ये है कि  
प्रायः वह अपेक्षित प्रथम में है। शाब्दिक युग में इस प्रकार के कई कर  
प्रकाश में आ रहे हैं। रामद्विज मिश्र गुस्ताब राव सेठ कर्तृपाताल  
पाठ्य, पंडित बलदेव्यसाय उपरम्भाय आदि के काव्यादर्श, काव्य के रूप,  
सिद्धांत और काव्यपत्र काव्य कलाकुसुम, मारतीय साहित्य शास्त्र आदि इसी  
परंपरा के ग्रंथ हैं।

## बनासरी नियम रसाकर

इस लेख की रचना श्री १०८ वासुदेवजी महाराज कौन्सीली पुरासिपलि सहायित्व कर्मी-कवि-समाज तथा सचसामारस के हितार्थ हुई थी तथा यह महाराज के आशुनुसार ही इने १८१० ई० में श्री रामकृष्ण बर्मा ने भारत-जीवन मेस से मुद्रित किया था।

इसमोक्षम कवियों के बन्द भी दीपयुक्त थे। यद्यपि कर्म-कर्मों अक्षर सख्या उचित होती थी फिर भी कहीं-कहीं कदोमत्र के उदाहरण होते थे। रसाकर जी ने लिखा है :—

“एक दिन ईश्वर की कृपा से एक बाल यैही ध्यात में आई जिससे मन्त्रि-भक्ति निरवध हो गया कि यदि इस रीति पर बला बाध तो निम्सवेद नियम स्थिर कर सकते हैं। फिर ता भिने पयशक्ति काम करवा आरंभ कर दिया और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा से कुछ नियम देखे कर लिप् जिसस संतोप प्राप्त हुआ।”

काम्य-रासत्र के ग्रंथों में सामान्यतः २१ ध्यों से अधिक क ब्रह्म को उक्त कहा गया है। यद्यपि बनासरी के लिप् भी इतक अंशा का प्रयोग में आया गया है, किन्तु उक्त कारण से इसे बनासरी न उचित कहना ही उचित होगा। येम के काम्य रसाकर पूर्व अखरत हुए ‘भाग्य भूपर’ तथा काम्य ग्रंथों के आधार पर २० से २३ वर्षवायु ध्यों कर ही विवेचन किया गया है। इन्हीं ने चार प्रकार के अनियमित उक्त मान हैं किन्तु दो ही प्रचलित हैं। २१ वर्षमात्रा मन्वहरण और २२ वर्षमात्रा ‘बनासरी’ कहा गया है। कर्तु-गुण का कोई नियम न था अतः इन् में इन्से अनियत उक्त कहा है। इसका अर्थ कर्तु और २२ का गुण होना अर्थात्। किन्तु यह नियम बना देना उचित नहीं है २१ के अधि में एक कम करने से २० तथा २२ में एक जोड़ने से २३ होते हैं किन्तु २३ में अतिम ३ या अधिक वर्ष कर्तु हैं। यदि तमों मिश्रण मात्र बने तो अत्युत्तम होगा।

मन्वहरण १६ १५, १६ १४, १६ १२, और देव १६ १० होता है। बनासरी का सामान्य नियम यह है—

आठ आठ पे तीन अति, चतुरि मात्र पे एक।

अन्त माहि नियमित गुण कहि बनासरी टेक ॥

यद्यपि यह उचित नहीं था। रसाकर जी का मत था, इस नियम के रंग होने से बोध्य व्यक्तियों के कर्मों में थी, जो कि शब्द के विभिन्न भेदतम व्यक्त

माने जाती हैं, कोई बरक नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह बात भी देखी गई कि उन नियमों के अनुसार होने पर भी अचित्त अग्रह रह सकता है। इस भूमिभू भाग में समस्या उठाई गई है। बिना है—

एकतिस वचिस वधुं को हे घनाचरी द्रव्य ।  
 प्रथम कथावत मनहरण द्वितीय रूप मुक्तकन्द ॥  
 सोल्ल पर अति कोविद, यदुमा करिके प्रेम ।  
 अमन माहि मनहरण के गुरु पालो करि नेम ॥

उत्पन्ना घनाचरी में शब्द बँडाने के पाँच नियम निर्धारित तथा उसकी विवेचना की गई है। १२ से अधिक गुण व २७ से अधिक अक्षर न मानने चाहिए। १० गुण व २३ अक्षर तक के उदाहरण प्राप्त हुए हैं। रत्नाकर भी ने शब्द की उपयुक्तता अथि की निपुणता पर जोर दी है। कठोर नियम निर्धारित करना उचित नहीं समझ्य। उन् फारसी के विद्वान् होने के कारण इन्होंने शप पर कियोप प्याव दिया। उन् में शप अय आनास बनसा जाता है। पुस्तक की समाप्ति-विधि मात्प्रव दृष्ट पक्षमी ही गई है। शब्द शास्त्र पर शप के माध्यम से किया गया वह प्रथम विवेचनात्मक लेख है। परन्तु खेद है कि यह दृष्ट होता था रहा है। केवल एक प्रति रामकृष्ण जी के पास है जिसे देखने का सीमात्मक मुझे भी प्राप्त हुआ है।

### वर्ण सवैया छंद

यह लेख मार्च १३०२ की सरस्वती में प्रकाशित हुआ था। इसमें उदाहरण सहित रत्नाकर जी ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सवैया शब्दों में शब्दों के अक्षररूप के स्थान पर गुण रूप आने की योग्यता केवल छन्दों के अम कियोप और शर्ष संख्या पर निर्भर है, शर्षना स्थान व कियोप स्थान-संख्या से इसका सम्बन्ध नहीं है। कहीं अक्षर के स्थान पर गुण शर्षों के आने से यदि विग्रह जाती है और कहीं नहीं विगड़ती है। इसके बाद शर्ष सवैया शब्द के १२ शब्दों के नाम अक्षर एवं उदाहरण सहित दिये गए हैं। भुवंग शब्द, अस्मी-शब्द तथा आमार शब्दों को दासजी ने सवैया के ही अन्तर्गत माना है, इनका उल्लेख रत्नाकर जी ने किया है।

आगे लेखक ने लिखा है, और जो बातें कही गई हैं उनसे सिद्ध होता है कि सवैया शब्दों में नियत अक्षर शर्षों के गुण रूप उनके प्रत्येक स्थान का निश्चित अक्षर-गुण के अम में आकर अक्षर पढ़ा जा सकता है और व वही नियम है कि प्रतिपाद में अक्षर से अधिक गुण शप में नहीं पड़े जा सकते।

केवल कई एक विशेष दशाओं ही में कुछ बर्ष गुण रूप से प्राप्त किये जाने में अक्षय्य करते हैं। जागे ने ही दशाएँ भी हुई हैं—

१ यदि किसी निपत गुण अवस्था का बर्ष और उसके पूर्व का बर्ष दोनों एक ही शब्द में पड़ें और उस निपत गुण स्थान के पूर्व का वह बर्ष गुण रूप से आवे तो बंद की गति बियद बाधगी यथा—

मेघ आत्म्या में आई रहे हैं जिन्हें लकि मोर हैं और मचावत।  
समीचीन रूप,

मेघ हैं चाप सुभंवर मोहि जिन्हें लकि मोर हैं और मचावत।

२ यदि दो किये एकत्र आते हों और दोनों एक ही शब्द के बर्ष हों तथा वहका किये गुण रूप से आवे तो गति को बिगाड़ देगा। उदाहरण—

हैं करे वादर अम्बर चापे जिन्हें लकि मोर हैं और मचावत।  
समीचीन रूप,

आवत वादर अम्बर चाप, जिन्हें लकि मोर हैं और मचावत।

३ जो किये सबैया बंद के अंत में होते हैं वे गुण रूप से न आवे-बाधिये।  
उदाहरणार्थ—

उठी अक्षुताय सुखी जब नेत्र कला परकीन लला मन्तराज।

इसमें भी सोदाहरण विशेषता अक्षय्यम रत्नाकर द्वारा ही हमें प्रसन्न होती है। उनके ये श्लोक मौखिक हैं तथा इन्हें स्वयं विशेषता हुई है। रत्नाकर जी ने केवल शब्द एवं नियम-विचारण मात्र ही आक्षेपक न समझ कर बंधुओं के लक्ष्य व क्षय पर भी विशेष ध्यान दिया। हिन्दी साहित्य में गण-काम्य लिपिना में रत्नाकर जी के ये श्लोक पद्य-महर्षक हुए हैं। अन्वय शर्म जी के कथनानुसार अम्बपुर में होनेवाले प्रसिद्ध भारतीय कवि सम्मेलन में आधुनी जी आपने ने और उन्होंने यह स्वीकार किया था कि इनका 'बंद प्रमाकर' रत्नाकर जी की रचनाओं से ही प्रेरित है। रीतिबद्धता की भाषाओं का विशेषण शब्द विषय-विचारण मात्र रहता था, किन्तु रत्नाकर जी ने नियम विचारण में संगीत, लक्ष्य आदि का पर्याप्त ध्यान रखा और वही उनकी विशेषता है।

### ४ विधियों तथा वारों को मिलाने की सुगम रीति

रत्नाकर जी ने लिखा है कि भारतीय संस्कृत, प्राकृत अथवा तथा अन्वय भारतीय भाषाओं के ग्रंथों में इनके निर्माण की विधि विद्वानों के अक्षय्य एक संकलन मात्र, पद्य, विधि तथा वार लिखे मिलते हैं। इस विधियों के विषय में कभी-कभी अन्वय होने लगता है कि वे इनके हैं अथवा प्रसिद्ध। उदाहरणतः वारों की विधि बताई गई है।

दो विधियों से तिथि व बार मासूम किया जा सकता है। अनुसोम विधि तथा प्रतिसोम विधि। अनुसोम में हृद तिथि से पूर की किसी तिथि पर बार श्राव्य करके गणित द्वारा हृद तिथि का बार मिलाया जाता है। प्रतिसोम में जिस दिन गणना करने बैठें उसी दिन से हृद तिथि तथा बार की गणना की जाती है। तापञ्चात् उन्होंने अपने 'विहारी का काव्य परिचय' शीघ्र खेन में विहारी के जन्मकाण्ड के विषय में दिए गए दोहों को लेकर अपनी दोनों विधियों का स्पष्टीकरण किया है। उनका यह बौद्ध प्राचीन विधियों का ज्ञान करने में निम्न ही सहायक सिद्ध हो सकता है। दोनों ही विधियों को वेदों से रत्नाकर जी के प्रकृत परिचित्य का दिग्दर्शन होता है।

### ५ श्री देवदत्त कवि का शिष्याष्टक

वेद की वेदशा राधाकृष्ण दास के पास सुरचित देव कविकृत 'शिष्याष्टक' की एक दस्तलिखित प्रति थी। रत्नाकर जी ने लिखा है—

“कुछ दिन हुए हमारे एक मित्र तथा सम्बंधी हिंदी-संसार से परिचित श्रीसुत राधाकृष्ण दास जी महोदय के पास देव कवि कृत शिष्याष्टक की एक दस्तलिखित प्रति आई थी।”

इसके बाद रत्नाकर जी ने कृति की प्राप्ति के विषय में बताया है। देव कवि के कंठ पर माताश्रीम जी दुबे जिता मीरपुरी के कुसुमरा स्वामि रहते थे। हमरी से यह दस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। देव कवि के कंठ के विषय में लिखा है, देव जी पूरे इरादे के विरसरिहा कर्मचक्रम आश्रय थे। उनके पिता विहारी बाबू जी इरादे के कुसुमरा, जिता मीरपुरी में जाकर रहने जाते थे। देव जी का जन्म सन् १९०३ ई० में कुसुमरा में ही हुआ था तथा पालु सन् १९०७ ई० में होना अनुमान-सिद्ध है। उनके कंठ के विषय में माताश्रीम जी ने लिखा है—

दृश्य

“दुबे विहारी ब्रह्म भय, निज गुण नंद वीरक,  
 तिनके भे कविदेव कवित में अनुपम रोचक।  
 पुरुषोत्तम के द्रष्टासि पापा कृत सेवक,  
 भये सुसास्त्रीचन्द्र पुत्र सुभसेनदु जी तक ॥

पौत्र

तिनके राधारम सुत, पितृ हमरे अतिमान,  
 था सुत माताश्रीम, यह दास राबरो जान।

हस्ताक्षर, देवद्वयि बराहमय मातादीन द्विवेदी स्वाम कुमुमरा, विद्या  
 मीनपुरी, ता १४ जून सन् १९२५ ई० ।" इन कवि की सातवीं पीढ़ी में  
 मातादीन की हुए ।

रत्नाकर जी ने प्रथमाया के कवियों में देव का स्थान उच्च बताया है  
 तथा उनकी कविता को बड़ी अमूर्ती उच्च कविता की तथा बागुबैभव शब्द  
 सद्युक्ति, रचना-बागुर्ष समीको सरासरीय माना है । इन कवि ने १६ से ७९ वर्ष  
 की अवस्था तक हिन्दी साहित्य की सेवा की । शिवायक उनके १५ वष के वय  
 से पूर्व की कृति है । उन्होंने लिखा है : "किस अवस्था में मनुष्य को स्वभावतः  
 ही शम्भालाहारों पर विशेष रुचि रहती है ।"  
 तत्पश्चात् शब्द के एक-एक अक्षर को छोड़ उसका अर्थ समझना है ।  
 कृति समाप्ति सिद्धि भी की गई है । पुनः रत्नाकर जी ने मन्त्र विवेकन किया  
 है "कहि किती विश पाठक महाशय को और कोई शब्द-विच्छेद अथवा अर्थ  
 स्फुटित हो तो वे इसी को यथार्थ मानें और हमको ब्रमा करें ।"

### कविवर विहारी

रत्नाकर जी ने विहारी सम्बन्धी अनेक श्लोक लिखे थे, उन्हें एक समाहो  
 चना का रूप देने की उनकी इच्छा थी । रामकृष्ण जी ने विहारी-सम्बन्धी  
 सभी श्लोकों को एकत्र कर उन्हें निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा— १ विषय-  
 प्रवेष्ट ( इसमें काव्य सम्बन्धी १२ श्लोक हैं, ) २ भाषा का सञ्चित इति  
 हास्य ( इसमें प्राकृत से लेकर ब्रज तक के भाषा के विकास सम्बन्धी ११  
 श्लोक हैं ) ३ साहित्यिक प्रथमाया और विहारी की भाषा ( १२ व्याकरण प्रथम  
 श्लोक हैं, ) ४ विहारी का काव्यत्व ( रीतिकान्ति सम्बन्धी १२  
 श्लोक हैं, ) ५ सतसई का अन्त ( विभिन्न कवियों पूर्व प्रतिष्ठों के अन्त सम्बन्धी  
 १५ श्लोक ) ६ विहारी सतसई पर की गई ५४ टीकाओं का उल्लेख तथा ७  
 इसमें विहारी की जीवनी सम्बन्धी ३ श्लोक हैं ।

इसमें से विहारी से सम्बन्धित कुछ श्लोक बागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रका-  
 शित हो चुके थे । कहीं-कहीं कोई-कोई भाव भी रामकृष्ण जी को अपनी  
 तरफ से भी जोड़ने पड़े । रत्नाकर जी के इन श्लोकों से उनके प्रकांड पांडित्य  
 एवं गहन अध्ययन का पता चलता है ।



## भाषण

### प्रथम अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन के प्रधान सभापति- पद से दिया गया भाषण

२१ दिसम्बर १९२५ का यह सम्मेलन काणपुर में हुआ था। राजाजी ने अपने भाषण में सर्वप्रथम कवि-सम्मेलन के उद्देश्य पर प्रकाश डाला है। उनका विचार था कि कविता की उन्नति का एक सुगन्धित रूप होना चाहिए तथा ठण्डकलता व मनोरंजन को दूर रखना चाहिए। उन्होंने दो प्राचीन कवि-सम्मेलनों का उल्लेख किया है। एक कवि-सम्मेलन अकबर के समय में हुआ था तथा दूसरे का उल्लेख सूरति मित्र के सरस-रस नामक काव्य-ग्रंथ के संदर्भ में है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कविता में अल्पवस्था थीर उन्मूलकता आ गई थी, उसे दूर करने के लिए ही एक कवि-सम्मेलन हुआ था जिसके फलस्वरूप सूरति मित्र ने अन्य विद्वानों की सहायता से प्राचीन एवं नवीन मेट्रों को दूर करने के लिए सरस-रस का निर्माण किया था। उक्त दोनों ऐतिहासिक कवि-सम्मेलनों का उद्देश्य काव्य में सौंदर्य खाने का था। राजाजी ने इस कवि-सम्मेलन का उद्देश्य भी यही बतलाया।

उन्होंने कविता तथा उसके उद्देश्य की परिभाषा भी बताई। साहित्यिक ब्रजभाषा तथा पंजी बोली का क्षेत्र, विषय-वस्तु पर प्रकाश डाला तथा ब्रजभाषा-कवियों को अपने काव्य में कुछ परिवर्तन करने की सलाह भी दी। यही नहीं, पंजी बोली के कवियों को भी उन्होंने सलाह दी। उन्होंने इनसे ब्रजभाषा के काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों से काव्य रीति एवं रचना-प्रणाली सीखने के लिए कहा। उत्तरार्ध सोदाहरण बहु-ज्ञानों के प्रयुक्त करने में शकती तथा उसके दूर करने की बुद्धि बताई। पुनः उन्होंने कविता की उन्नति तथा इसे सुगन्धित बन में रखने के लिए समा स्थापित करने की इच्छा एवं आवश्यकता प्रकट की। वे पंजी समा स्थापित करना चाहते थे जिसमें मित्र-मित्र भाषाओं के कवि सम्मिलित हों तथा ऐसे विद्वानों एवं सिद्धियों का प्रतिपादन हो जो सभी भाषाओं के काव्यों में समान रूप से प्रयुक्त किया जा सके।

## बीसवें अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के समापति-पद से दिया गया मापण

रक्षाभ्र की कविता का विषय यह भाग्य ३० इहाँ में पुस्तकमय प्रकाशित हुआ था। २६ मई सन् १९३० की दिन में साठ ठीक बजे कलकत्ते के सीक्रेट इन्स में यह सम्मेलन आरम्भ हुआ था।

पहले एक श्लोक तथा कवित्त के उपरांत उन्होंने अपने समापति पुने जाने के लिए आत्मिक इच्छा तथा धन्यवाद दिया। तत्पश्चात् पार साहित्य-सेवियों के वैदायमान पर दार्शनिक शोक तथा समवेदना प्रकट की। वे वे श्री लाला यगवानदीन जी, श्री गणेश शरर जी विचार्यी, श्री हरिमन्त जी मिश्र तथा श्रीहृष्य बलदेव। अपने मापण के आरम्भ में उन्होंने हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति तथा विकास के विषय में बताया है। उन्होंने कहा, मेरी समझ में आधुनिक हिन्दी कविता कहीं बोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा तथा पंजाबी के मेल से हुई है। इसे उन्होंने उदाहरण के सहित स्पष्ट किया है। पुनः अन्तर्गत कर्णों का हिन्दी में प्रयोग आरंभ होना कब से आरम्भ हुआ, इसकी बताया है। उन्होंने कहा है कि प्रथम य के पाद दो भाषाओं का रूप था। प्रथम शीतलानी तथा दूसरी कहीं बोली। १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अर्थात् मुसलमानों के स्थित हो जाने के पश्चात् कहीं बोली की अधिक उन्नति तथा प्रचार हुआ अरब, मुसलमानों तथा भारतवासियों के पश्चात् विवाह-विनिमय के लिए एक भाषा की आवश्यकता हुई जिसके फलस्वरूप कहीं बोली हमारे समक्ष उपस्थित हुई। पुनः कहीं बोली का विकास दिखाया गया है। १४ वीं शताब्दी के मध्य से अमीर तुमरो की पदेकियों घोसद्वी तथा अमरवी शताब्दी में कबीर एवं अन्य संत कवियों द्वारा इसका प्रचार हुआ। अन्तिम शताब्दी में कहीं बोली के ही रूप हिन्दी तथा उद्घोष हो गए। मुसलमानों द्वारा उद्घोष की विधायक उन्नति हुई। प्रथम उद्घोष तथा सिल्ल के कहीं बोली में ही अन्तिम कविताएँ लिखी हैं किन्तु विशेष रचना नहीं हुई।

अन्तिम शताब्दी में भारतेंदु को हिन्दी गद्य का मुख्य प्रवर्तक बताया। बंगाली-पत्रकारिता-काल तथा 'सरस्वती' पत्रिका की प्रकाश के तथा हिन्दी भाषा का प्रचार करने में महाश्रीरमदा द्विवेदी की भी प्रशंसा की। मई सन् १९३० ई० की हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की रचना हिन्दी की उन्नति के सद्गुरुरूप से होना बताया। प्रथम अधिवेशन के समापति महामन्त्रा मातृभाषा

की हुए, जो आरिबन नवरात्र में सोमवार, सप्तमी १० अक्टूबर संवत् १९१० ई० को हुआ था।

उत्पन्नाय हिंदी साहित्य सम्मेलन के गत बीस वर्षों के इतिहास पर मन्त्रण हुआ गया है। इंदौर के सम्मेलन में गांधी जी द्वारा अन्ध मूर्तों में भाषा के प्रचार के लिए अनेक संस्थाएँ स्थापित करने की योजना बनवाई गई तथा गांधी जी ने प्रस्ताव करते हुए बताया कि मद्रास में भी वे प्रचार कार्य कर रहे हैं। कई पाठशाळाएँ तथा विद्या-केंद्र स्थापित हुए। पंजाब-कैसरी तथा माथी-प्रकला नामक साप्ताहिक पत्रिका का संवर्धन बैठे हुए हिंदी की एक दिन रद्द-भारा बन जाने की दृष्टि आशा प्रकट की जो आज पूर्ण हो गई है। किंतु वे हिंदी की तब तक हुई उन्नति से ही संतुष्ट नहीं थे। साहित्य-सम्मेलन द्वारा और महत्वपूर्ण कार्यों के लिए आग्रह किया तथा नागरी-मचारिणी-सभा के कार्यों का विवरण देते हुए उत्तरी प्रस्ताव की।

सम्मेलन के परिणाम विमला को कियोप महत्व प्रदान किया। ब्रिटिश भारत की म्यूसिसिपैलिटी तथा जिन्दाबोर्ड, स्त्री-समाज भुसखमान विद्यार्थी तथा रिपा-सतों द्वारा हक परीक्षाओं को महत्व देने की बात कही। संवत् १९१४ में १०० परीक्षा-केंद्र थे। उन्होंने हिंदी-विद्यापीठ की कियोप उन्नति करने के लिए आग्रह किया। संस्था के सदस्यों तथा हितैषियों की संख्या पर उन्होंने 'अध्या' उत्पन्न होने की बात कही। भारत की ३९ करोड़ जनसंख्या होने पर तथा देश के कोमे-कोमे में संस्था होने पर भी उसके सदस्य कुछ १५८ थे। अतः सदस्यों हितै-षियों को संख्या बढ़ाने के लिए आग्रह किया। गत कुछ वर्षों के विकास पर संतोष प्रकट किया। उत्पन्नाय गद्य, वाक्य, उपन्यास, आख्यायिकाओं के विस्तार को बतलते हुए आदर्शवादी बनने तथा साहित्य में अरसीकटा न जाने के लिए कहा। समाजोचना साहित्य के अभाव पर शोक प्रकट किया। किंतु भार-तंत्रु के काश से ही इसका अभाव मानकर इसके विकास पर भी दृष्टि डाली है। पत्र-पत्रिकाओं की तन्मयता अस्तित्व को संतोषप्रद बताया। पत्र-पत्रिकाओं में लटकने वाली बात तथा उन्हें पात्ररूप देयों के पत्र-पत्रिकाओं के सम्बन्ध न पाकर कुछ प्रकट करने के उन्होंने दो कारण बताए हैं। पुनः उन्होंने कहा, आज-कल अतिनी अंधाशु की पुस्तकों के प्रकलन की ओर है ततनी न होनी चाहिए।

“ गुरा होने से कुछ न होना ही अच्छा है।

आगे उन्होंने कहा कि 'अधिका एक ललित कला है। परंतु काव्य मनुष्य का आर्थिक अर्थ-दायी ही तथा पढ़ने का रंग अच्छा होना चाहिए। उन्होंने कहा, काव्य में मातुर्य अथवा अज्ञान गुण बहिर्नीय हैं उनमें भी

प्रसाद गुण का हीमा आवश्यक है। कविता भावों को प्रदर्शित करने के अति-  
 प्रायः से लिखी जाती है, न कि उसके लघ्वाङ्गुर के पदल में बिचाने के लिए,  
 पर शब्द का विनय है कि इस युग के अतिशयत नवीन कवि अपने गम्भीर  
 भावों को सरलता से बोधगम्य व होने देने ही में अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।  
 इसे उन्होंने अनुचित बताया।

काव्य ही प्रकार का गद्यात्मक तथा पद्यात्मक होता है। प्रसाद गुण आवश्यक है। शायद उन्होंने ब्रह्म और मायाओं की महत्ता बताई। अतुल्य से सतु-  
 कांत काव्य को सुन्दर बताया। प्रजभाषा के अथापतन का अर्थ स्पष्ट बताया,  
 'इस समय हमारे देश में सप्तोमुष्ठी स्थिति की उजाक्या हो रही है। इस  
 स्थिति का उद्देश्य प्राचीनता के विरुद्ध, चाहे वह साहित्यिक सामाजिक अर्थिक  
 अथवा राजनैतिक हो, एक ओर अतीव लक्ष्य खड़ा करना है।' हिंदी में भी वह  
 स्थिति हो रही थी तथा स्थिति काल में भाषा में परिवर्तनशीलता मिलती है,  
 ऐसा इतिहास में भी हम देखते हैं। प्रजभाषा से उन्हें प्रेम था, उसके अथा-  
 पतन पर शब्द मकल करते हुए उन्होंने कहा, 'जब कहीं बोझी के पक्षपाती कविओं  
 को अपने प्राचीन साहित्य अथवा प्रजभाषा की बड़े-बड़े करते, उसे हीन-हीन  
 तथा सर्वथा उपेक्षित बताने हुए देखता हूँ तो मुझे आंतरिक व्यथा होती है।'

महात्मा सुब्रह्म तथा तुलसी की महत्ता पर प्यान आक्षेपित करते हुए  
 उन्होंने बताया कि अन्य देशों में भी प्राचीन साहित्य उसके अर्थात् साहित्य  
 से अधिक महत्त्वप्राप्त है। वे प्रजभाषा के अत्यन्त पक्षपाती तथा समर्थक  
 व थे किन्तु अपने को कहीं बोझी बच्चों में मानने में उन्हें संकोच था।  
 प्रजभाषा पर आक्षेप लगाने वालों को उन्होंने प्रजभाषा के साहित्य से अपरि-  
 थित बताया। समीक्षण का अर्थ उन्होंने प्राचीन ग्रंथों का अन्वेषण तथा संग्रह  
 बताया। सन् १३ के सम्मेलन में प्रजभाषा के एक उत्तम कोष के प्रकाशन का  
 संस्कार किया गया था किन्तु बसोप नहीं हुआ था। इसे तथा प्रज का एक  
 सामाजिक व्याख्यान बनवाने की आवश्यकता के लिए कहा।

अन्त में बागरी-विधि को राईव-विधि होने के योग्य बताया। संस्था में  
 अन्तः का अभाव और शक्ति का अभाव बताया तथा हिंदी-प्रमियों से आन्-  
 त्यक्त सुधार करने की प्रार्थना की। समाप्ति पर परम कल्याणकाम्य अग-  
 निवार से अपनी और उपस्थित सम्मेलों तथा सर्व-हिंदी-हितैषियों की ओर से  
 उन्होंने प्रार्थना करते हुए आरंभ समाप्त किया।

## चतुर्थ भाष्य सम्मेलन

यह ३ नवम्बर १९२९ ई० को इलाहाबाद में सम्पन्न हुआ। रत्नाकर जी इसके हिंदी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। सम्मेलन में उन्होंने अंग्रेजी में भाषण दिया तथा ३ पृष्ठों में यह प्रकाशित हुआ।

---

## संपादित ग्रन्थ

### १ सुधासागर, प्रथम भाग

रवाकर जी ने सन् १८८७ ई० में इसे श्रीपुर परमोदार नामाधीन्य जी १०८ हीरासिंह व् वैद्य-मीत्यर्प सम्पादित कर अष्टिका प्रेस से प्रकाशित करवाया। इस ग्रंथ में राधा को मानवीय रूप प्रदान कर उनके अष्टशिल्प का वर्णन किया गया है।

### २ कबिकुल कंठामरण

यह अष्टाहार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी रचना वृत्त कवि ने, रवाकर जी के अनुसार, सन् १८०४ के लगभग संस्कृत ग्रंथ शंभुसोत्र तथा कुलकर्णार्णव को आधार मानकर १२० अक्षरों को संक्षेप में अक्षर अक्षर रूप में प्रदर्शित करने के लिए की थी। अक्षरकार ग्रंथों में इसका विशेष महत्त्व है। रवाकर जी ने सन् १८८४ ई० में इसे सम्पादित कर भारत बीकन प्रेस से प्रकाशित करवाया।

### ३ दीपप्रकाश

यह अष्टाक्षर कवि की रचना है, जो एक अक्षर ग्रंथ है। नायिका भेद, अक्षर अष्टाहार तथा गुणदोषों का वर्णन ३३ श्लोकों में किया है। रवाकर जी ने इसका सम्पादन अष्टाक्षरों के आधारानुसार सन् १८८४ ई० में किया। अष्टाक्षरों के बाटे रवाकर जी ने अष्टाक्षर में अष्टाक्षरों की प्रशंसा की है और 'भाषामूलक' की शून्यता का इस ग्रंथ को पूरक करा गया है।

### ४ सुन्दर शृंगार

यह सुन्दररत्न एक शृंगारिक ग्रंथ है। इसमें नायिका भेद, विभाव अनुभाव सञ्चारी भाव इत्यादि की विवेचना तथा संभोग-विषय शृंगार का चित्रण है। इसे रवाकर जी ने श्रीरामरूप्य कर्मा के छाया मिश्रकर सम्पादित किया तथा भारत बीकन प्रेस से ही प्रकाशित करवाया।

### ५ नृपशम्भु कृत नखशिख

इसका सम्पादन रत्नाकर जी ने सन् १८९३ ई० में किया था, मुजफ्फरपुर के नारायण प्रेस से यह ग्रंथ मुद्रित हुआ। ऐसा कि इसके नाम से स्पष्ट है यह एक नखशिख ग्रंथ है। ३० पृष्ठों में इसका विस्तार है। भूमिका में रत्नाकर जी ने इसके विषय में लिखा है, 'इसकी कविता अपने बड़ की है। बाहरी बातों का वर्णन यह विशेष करते हैं पर हृदय का चित्र यह मछीमांछि नहीं बनाते। इसकी उपमा में स्तूत्र कीर मत्पत्र बलु विशेष जाती है।'

### ६ हम्मीर हठ

यह चन्द्रशेखर बाबरेयी की बीररत्न-सम्बन्धी एक प्रसिद्ध रचना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे हिंदी-साहित्य का एक रत्न माला है। सन् १८९३ ई० में इसका प्रकाशन सप्तद्विप सुप्रसिद्धि प्रेस से हुआ था। पुनः यह नागरी-मञ्जारिणी-समा द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें कवि की बीकनी तथा भूमिका भी है। भूमिका में रत्नाकर जी ने लिखा है कि इसके प्रथम श्री गौरांगकर जी एवं यदुबाबू में विद्यमान थे।

### ७ रसिक विमोद

इसकी रचना भी पं० चन्द्रशेखर बाबरेयी जी ने महाराज श्रीनरेंद्रसिंह जी के लिए की थी। सन् १८९७ ई० में रत्नाकर जी ने इसे सम्पादित कर भारत बीकप प्रेस से प्रकाशित करवाया।

### ८ समस्यापूर्ति, भाग १

काशी कवि-समाज के विगत १२ अधिवेशनों में जो समस्यापूर्तिपूर्ण हुई थी उनके संगृहीत कर रत्नाकर जी ने गोपालमन्दिर के सहित जी १०८ महागोस्वामी जीवनदास जी महाराज के आशुसुसार सन् १८९७ ई० में भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित करवाया।

### ९ घासोऽन्ते प्रसन्न

इसके रचयिता लखनऊ के प्रसिद्ध उन्नीठापर 'शुक्ल' हैं। इस पुस्तक के शीर्षक का अर्थ है 'घासिक मन्त्रों के बीजों से।' रत्नाकर जी ने सन् १८९५ ई० में इसका सम्पादन कर देवनागरी लिपि में हरियकन बंगाल से मुद्रित करवाया।

## १० हित सर्गिनी

कुमाराम कृत यह एक नया रस का ग्रंथ है। इसकी रचना सन् १९१८ वि० में हुई थी। रत्नाकर जी इस 'पद्याल' से एक की कृति मानते हैं। इसका सम्पादन कर सन् १८९५ ई० में भारत ऑफिस प्रेस से इसे प्रकाशित कराया।

## ११ केशवदास-कृत नखगिख

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने इस ग्रंथ का उल्लेख अपने इतिहास में नहीं किया है तथा यह ग्रंथ प्रकाश में भी नहीं है किन्तु डा० हीरालाल दीक्षित ने हमका धनित्व स्वीकार किया है। रत्नाकर जी ने भी इसका स्पष्टतः धनित्व स्वीकार कर इस सन् १८९६ ई० में भारतऑफिस प्रेस से सम्पादित कर प्रकाशित कराया।

## १२ सुदान सागर

यह बचानेह का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। सर्वप्रथम साहित्य सुधारनिधि-ग्रन्थ में यह प्रकाशित हुआ था किन्तु सन् १८९० ई० में इसे रत्नाकर जी ने पुस्तक का रूप प्रदान किया। रत्नाकर जी ने इसका सम्पादन अल्पशिक सुधार बङ्ग से किया है। इनके सम्पादन-कर्मगत का इस ग्रंथ में पूरा दिग्दर्शन होता है। इसकी एक अनुपम विशेषता यह है कि रत्नाकर जी ने संदिग्ध स्थानों को मरनबाधक बिन्दु सहित उस स्थल को मरनबाधक ही रखा। स्वयं धनित्व ग्रन्थ से टीका करना उन्होंने उचित नहीं समझा।

## १३ विहारी-रत्नाकर

विहारी सतसई हिंदी साहित्य की उत्कृष्टतम रचनाओं में है। रत्नाकर जी की सबसे धनिक प्रामाणिक टीका है। यों तो रत्नाकर जी ने ५३ ग्रन्थ टीकाओं का उल्लेख किया है। किन्तु इन टीकाओं में श्रेष्ठतम टीका 'विहारी रत्नाकर' सर्वमान्य है। रत्नाकर जी का 'विहारी' के विषय में गहन गम्भीर अध्ययन था। यह 'अविचार विहारी' ग्रन्थ को देखकर ही शक हो जाता है। रत्नाकर जी ने विहारी के अन्ततः में प्रवेश-या लिखा था। यही नहीं वे प्रथमापा के भी पद्य एवं मर्मज्ञ थे। अर्थ लगाने में भी उनकी चमत्ता-विशेष थी। उन्होंने

१ आचार्य केशवदास, लल्लुकर विरचिद्यालय, हिंदी-विभाग से प्रकाशित  
वी० एच० डी० की धनित्व।

२ अविचार विहारी का छटा प्रकाश।



## ५ नृपशम्भु कृत नखशिख

इसका सम्पादन रत्नाकर जी ने सन् १८९३ ई० में किया था, मुम्बईपुर के नारायण प्रेस से यह ग्रंथ मुद्रित हुआ। कैसा कि इसके पाम से स्पष्ट है यह एक नखशिख ग्रंथ है। ३० पृष्ठों में इसका विस्तार है। भूमिका में रत्नाकर जी ने इसके विषय में लिखा है, 'इनकी कविता अपने बड़े की है। बाहरी बातों का बलन यह विशेष करते हैं पर हृदय का चित्र यह महीमंति नहीं करते। इनकी उपमा में स्पष्ट थीर प्रत्यक्ष वस्तु विशेष जाती है।'

## ६ हुम्मीर इठ

यह चंद्रशेखर बाबदेवी की बीररस-सम्बंधी एक प्रसिद्ध रचना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिंदी-साहित्य का एक रत्न माना है। सन् १८९३ ई० में इसका प्रथम बार साहित्य सुधानियंत्रि प्रेस से हुआ था। पुनः यह बागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें कवि की जीवनी तथा भूमिका भी है। भूमिका में रत्नाकर जी ने लिखा है कि इनके पुत्र श्री गौरशंकर की तब परिवारा में विद्यमान थे।

## ७ रसिक विनोद

इसकी रचना भी चंद्रशेखर बाबदेवी की ने महाराम भीलरेंद्रसिंह की ने लिखी थी। सन् १८९४ ई० में रत्नाकर जी ने इसे सम्पादित कर भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित करवाया।

## ८ समस्यापूर्ति, भाग १

कसरी कवि-समाज के विगत १९ अभियेक्यों में जो समस्यापूर्तियाँ हुई थीं उनके संगृहीत कर रत्नाकर जी ने गोपालमंदिर के मईठ की १०८ महागोस्वामी जीकबजाब की महाराज के आज्ञानुसार सन् १८९४ ई० में भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित करवाई।

## ९ वासोद्वे कलाक

इसके रचयिता कलकत्ता के प्रसिद्ध डॉ. शायर 'कुसुम' हैं। इस पुस्तक के शीर्षक का अर्थ है 'आर्थिक मामूळ के चोचके।' रत्नाकर जी ने सन् १८९५ ई० में इसका सम्पादन कर देवनागरी लिपि में इतिवक्त बंधावर से मुद्रित करवाया।

## १० हित तरंगिनी

हजाराम कृत यह एक गद्य रस का ग्रंथ है। इसकी रचना सं० १५१८ वि० में हुई थी। रवाकर जी इसे 'पद्यावत से पूर्व की कृति मानते हैं। इसका सम्पादन कर सन् १८४५ ई० में भारत जीवन प्रेस से इसे प्रकाशित कराया।

## ११ केशवदास-कृत नखशिख

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने इस ग्रंथ का उल्लेख अपने इतिहास में नहीं किया है तथा यह ग्रंथ प्रकाश में भी नहीं है किंतु डा० हीरासहाय दक्षित ने इसका अस्तित्व स्वीकार किया है। रवाकर जी ने भी इसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार कर इसे सन् १८४९ ई० में भारतजीवन प्रेस से सम्पादित कर प्रकाशित कराया।

## १२ सुजान सागर

यह बनारस का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। सर्वप्रथम साहित्य सुधारविधि-ग्रंथ में यह प्रकाशित हुआ था किंतु सन् १८४० ई० में इसे रवाकर जी ने पुस्तक का रूप प्रदान किया। रवाकर जी ने इसका सम्पादन अत्यधिक सुचारु ढंग से किया है। इनके सम्पादन-कौशल का इस ग्रंथ में पूरा विवरण होता है। इसकी एक अग्रिम विशेषता यह है कि रवाकर जी ने संदिग्ध स्थानों को प्रत्यक्ष चिह्न सहित उस स्थल का प्रत्यक्ष ही रखा; स्वयं अतिरिक्त रूप से टीका करना उन्होंने उचित नहीं समझा।

## १३ बिहारी-रत्नाकर

बिहारी सतसई हिंदी साहित्य की उत्कृष्टतम रचनाओं में है। रत्नाकर जी की सबसे अधिक प्रामाणिक टीका है। यों तो रवाकर जी ने ५३ अन्य टीकाओं का उल्लेख किया है। किंतु इन टीकाओं में श्रेष्ठतम टीका 'बिहारी रत्नाकर' सम्मान्य है। रत्नाकर जी का 'बिहारी' के विषय में गहन गम्भीर अध्ययन था। यह 'अबिहार बिहारी' ग्रन्थ को रत्नाकर ही प्राप्त हो जाता है। रवाकर जी ने बिहारी के अन्तस्तत में प्रवेश-या किया था। यही नहीं वे अन्तर्भाषा के भी पठित एवं मर्मज्ञ थे। अर्थ जगामे में भी इनकी समस्त-विशेष थी। उन्नीस

१ आचार्य केशवदास, लालनन्द विरचिद्यालय, हिंदी-विभाग से प्रकाशित पी० एच० डी० की थीसिस।

२ अबिहार बिहारी का अष्टम प्रकाश।

जयपुर के राजकीय पुस्तकालय में बिहारी-सतसई की हस्तलिखित प्रतियों को भली प्रकृति देखा था। इस ग्रंथ के संपादन के समय उन्हें अजमेरवरी से सहायता मिली थी। रत्नाकर जी ने इस सुघण्टर का पूर्ण काम बढाया। यह उन्होंने के अनेक परिश्रम तथा गहन अध्ययन का फल है कि आज हमें बिहारी-सतसई की एक प्रमाणात्मक प्रति प्राप्त हो सकी है।

पृ० २५ मार्च सन् १९१९ ई० को प० रामनाथ ज्योतिषी अजमेरवरी के आशुलुसार जयपुर गए और वहाँ से बिहारी-संबंधी आवश्यक सामग्री का संकलन कर लाए। इसका संपादन कर्मरहित प्रांत के विद्यालय भाग में सन् १९२२ ई० में समाप्त हुआ। रत्नाकर जी ने बड़ी लगन तथा बड़े परिश्रम के साथ इसका संपादन किया। वहाँ तक सम्भव हो सका है, दोहों के क्रम को बङ्गुनि बिहारी के ही क्रमानुसार रखने का प्रयास किया है।

बिहारी रत्नाकर के विषय में प्रधान बिरुचिविद्यालय के तत्कालीन वास्तु शासक महामहोपाध्याय डा. गंगाधर शर्मा, पृ० ५० की कि०० ने बिहारी-रत्नाकर के प्रकाशन पर हर्ष प्रकट करते हुए लिखा है— 'बाबू जगन्नाथदास मेरे बड़े प्राचीन मित्र हैं। इनसे मेरा पहिला परिचय सन् १८७९ ई० में हुआ था। जब वह बीस काबेज, बनारस में पढ़ेंस में पढ़ते थे और मैं दरभंगा से पढ़ेंस पास करके बर्लिन ईपर छात्र में आया था। जब दिनों तो यह बात हम लोगों को बड़ी बात थी पर इतना अब भी स्मरण है कि उसके स्वरूप में अधीकृत प्रतिमा और बर्लीन में अपूर्ण सरकता थी।' उन्हींने रत्नाकर जी के विषय में आगे कहा "प्राचीन काल के अधिकाधिक और टीका-शक्ति परस्पर बिच्छू समझी गई हैं। इस ग्रंथ को देखने से यह है कि रत्नाकर जी केवल सरस कवि ही नहीं बड़े सरस टीकाकार भी हैं।"

टीकाकार के द्वारा समीकृत एवं मर्मज्ञ पं० कुम्भबिहारी जी मिश्र ने बिहारी-रत्नाकर पर अपनी सम्मति प्रकट की है। वे लिखते हैं 'अनेक टीकाएँ होने पर भी इसके (बिहारी सतसई के) भाव लोगों को स्पष्ट नहीं होते थे। यहाँ तक कि हिंदी के प्रकाश पंडित सर आर्च मिश्रसन को भी इसके समयमें मैं बड़ी बलकनें पड़ी, फिर भी उनकी कितनी ही शंकाओं का सामना करना पड़ा। पर हमें बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी जी० ५० का इतना ही वादिप, किन्हीं ने अपने अत्यंत अध्ययन, प्रकाश बुद्धि, प्रकाश पाठित्व और अपनी

साहित्यिक जगत और प्रकृति के अनुसार इसकी बिहारी रत्नाकर नाम की जो टीका प्रकाशित कराई है वह अप्रत्यक्ष ऐसी है, जिस देखकर डा० ग्रियसन को भी शिकायत से इस आशय का पत्र लिखना पड़ा, Your edition has dissipated all my doubts. इसका अर्थ यही है कि उन्होंने बिहारी की सभी उपलब्ध प्रतिषों से पाठ का संशोधन किया, काम का संगठन किया और भाषों का पता लगाया, फिर अर्थ में क्या अड़चन रही वह करने काय ही स्पष्ट हो गया। पर यह उनके इस कार्य के अगाध परिश्रम का फल था।

.. रत्नाकर की के संपादन का अंग देवदत्त भण्डे हमार हिन्दी के मन्त्रालय सचिव-श्रेणी उस परिश्रम का अप्रत्यक्ष समर्थन पर उसकी उपयोगिता की उसका महत्व उन्हें २ जनवरी के अंतर में प्रकाशित कुछ पत्रियों से ही जगा, जिसका भाव यह है "No German scholar can be so painstaking and elaborate in his effort etc."

बिहारी-रत्नाकर आठ की बिहारी-महाकाव्य की प्रायोगिक एवं सर्वश्रेष्ठ टीका है। इसके लिए यदि हम रत्नाकर की को श्रेष्ठः धन्यवाद की दें तब भी वह कम ही होगा। हिन्दी-साहित्य-संसार उनकी इस काम का बहुत कुछ रहेगा।

### १४ सुरसागर

सुर के पद हिन्दी साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। रत्नाकर की अपरम अंजन के अन्तिम दिनों में इन्हीं रत्नों को जोड़कर इनका एक अमूल्य एवं अनुपम हार बनाकर हिन्दी साहित्य को अर्पण करना चाहते थे, किन्तु वेद है कि उनकी यह आशा पूरा न हो सकी और 'कभी मृत की मजिद रही' के अनुसार वह हार पूर्ण होसके-दोसरे रह ही गया।

सुर एक लाख पदों के लक्ष्यिता कहे जाते हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि सुरसागर एक विशाल ग्रंथ है। इसके संपादन में अपूर्व साहस, धैर्य एवं अर्थ की आवश्यकता थी। बिहारी-रत्नाकर से निरुत्त होकर रत्नाकर की इसी महत्वपूर्ण कार्य में जाने। वे नकल सर्गों तक पूर्ण तथा प्रथम सर्ग का तीन चौथाई भाग सम्पादित कर चुके थे तथा कुछ भाग प्रकाशित भी हो चुके थे। बाद में डॉ० मन्मथलाले आनन्देयी जी ने उनके इस अपूर्व कार्य की पूर्ति की। सात्राजी जी लिखते हैं "सुरसागर के इस संस्करण को प्रामुख करने की कलाया गर्व-

प्रथम स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के मन में हुई थी जो ब्रजभाषा और प्राचीन काव्य के अवन्य प्रती और मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने इस संकल्प को पूरा करने के विभिन्न अनेक स्थानों से सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त की थीं और संपादन कार्य की प्रारंभिक कप-रेखा भी बनाई थी। उन्होंने ब्रजभाषा-शास्त्रज्ञ सम्बन्धी आकरपत्र शोध भी की थी और अपने इन विचारों, निर्णयों को लिपिबद्ध भी कर लिया था। ब्रजभाषा की प्राचीन पुस्तकों तथा सूरसागर की पुरानी प्रतिलिपियों के आधार पर उन्होंने प्रस्तुत संस्करण के लिए एक सामान्य लिपि पद्धति का भी निर्माण किया था, परंतु इस प्रारंभिक सामग्री को लेकर वे सम्पादन कार्य में संबन्ध हुए थे इतने में उनका असाधारण शरीरान्त हो गया और अबकी योजना अकृतकार्य ही रह गई।

उन्होंने कृतसाध्य बहुमूल्य सामग्री और दुस्तम ग्रंथ सभा को समर्पित किया जिसके बिना सभा को इस संस्करण को इतने विद्वान् और विरक्त कप में उपस्थित करना असम्भव ही था।<sup>१</sup>

प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्रिका माधुरी के मृतपूर्व सम्पादन तथा हिंदी रीतिकाल-साहित्य के मर्मज्ञ पं० कृष्णबिहारी जी मिश्र रत्नाकर जी के सूरसागर के सम्पादन के विषय में लिखते हैं। इस कार्य में दो टार्ड वर्ग से आगने हो तीन क्षेत्रक भी विपुल कर रक्के हैं जो सदा उनके साथ रहते हैं और अबकी देख रेख में उनके आदेशानुसार सब प्रतियों के पदों की सखिमा संपादन करते हैं। फिर रत्नाकर जी स्वयं सब प्रतियों के पद सुनकर तज्जित सब तंकरणों का विचारण करके छद्म पाठ लिखवाते हैं।<sup>२</sup>

इसमें कोई सन्देह नहीं कि रत्नाकर जी ने अपने ध्येय एवं अम से इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करने का बीड़ा उठाकर हिन्दी साहित्य का महान् उपकार किया है। मझे ही अब अबकी इस महत्ता को कोई न समझे, किन्तु यह हिन्दी साहित्यिकों के लिए उचित नहीं मतीत होता। आचार्य मन्मथुद्वारी बाबूपेयी जी ने बचम सर्ग तथा तीसरे चौथाई दशम सर्ग के सम्पादन को 'प्रारंभिक-कपरेखा' माना क्या है जो कृष्ण भी हो किन्तु इतना तो निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि यदि रत्नाकर जी ने इस कार्य को इतना सरस न बना दिया होता तो आज हमें सूरसागर का कोई भी प्रामाणिक पाठ अप्राप्य होता।

१ सूर-सागर की सम्पादकीय विवृति स।

२ माधुरी, अग्रेष, १९३१,

रत्नाकर जी ने १० मतिर्यी का संकलन किया था। सुर के पद गीतकाव्य होने के कारण अधिक बिकरे हुए थे, अतः उन्हें प्रकाश करना और भी परिश्रम का कार्य था। किन्तु रत्नाकर जी ने धैर्य नहीं छोड़ा। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यदि उनकी असामयिक मृत्यु न हो जाती तो 'बिहारी रत्नाकर' की तरह भाव सूरसागर की टीका भी हिन्दी-साहित्य में जगमगाती हुई अपना विशिष्ट स्थान रखती।

---



काव्य रूप, भाषा एवं कला





## काव्य रूप की दृष्टि से वर्गीकरण

रचितकाल तथा द्वितीय युग की प्रवृत्तियों का समन्वय करने वाले कवि रत्नाकर जी यदि एक आर मुक्तक-परम्परा का पावन करते हैं तो दूसरी ओर वे इतिहासात्मक कवितासौखी भी प्रदह्य करते हैं। रचितकाल की मुक्तक परम्परा उनके विराम प्रिय है इसमें संदेह नहीं, किन्तु प्रबन्ध काव्य की रचना में भी उनके कम आकर्षित नहीं किया है।

स्वरूप और रचना की दृष्टि से काव्य के दो भेद माने गए हैं। १ अर्थ काव्य २ अर्थ-काव्य। रत्नाकर जी ने एक भी अर्थ काव्य की रचना नहीं की। अर्थ-काव्य के निबन्ध के विचार से तीन भेद माने गए हैं। १ प्रबन्ध, २ निबन्ध तथा ३ निबन्ध-काव्य। रत्नाकर जी ने प्रबन्ध के दो प्रमुख सर्वो महाकाव्य तथा लंबकाव्य में से लंबकाव्य को ही अपनी रचना के लिए चुना था। हम उनके द्वारा रचित लंबकाव्यों पर विचार करेंगे। लंबकाव्य में किसी बृहत् कथा से भी गई प्रथम घटना का उल्लेख होता है। कथा सारतन्त्र में चलती है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा इसका क्षेत्र सीमित रहता है तथा जीवन की अपेक्षरूपता न होकर एककृतता प्राप्त होती है। कभी-कभी लंबकाव्य में गीतात्मकता का भी समावेश रहता है। यों तो लंबकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है किन्तु आधुनिक काल में उसकी विधाय उन्नति हुई है। पौराणिक पूर्व ऐतिहासिक कथाओं पर आभित तथा स्वतंत्र कवि-कहना से नि-सृत दोनों रूपों में लंबकाव्य की रचना हुई है। उदाहरणार्थ रासर्षणाभ्यासी, अमररति हरिश्चन्द्र, गंगावनरथ आदि लंबकाव्य पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाओं पर आभित है तथा पं रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' और 'मिलन' कवि कहना से नि-सृत हैं। रत्नाकर जी ने दो लंबकाव्यों की रचना की जिनका उल्लेख करना उचित होगा।

### लंबकाव्य, १- हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र का उपाख्यान पौराणिक उपाख्यान है। श्री मेघनागवत में इसका मूल रूप मिलता है। राजा हरिश्चन्द्र एक सन्तप्रिय तथा त्यागी शापक के रूप में चित्रित किये गए हैं। श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त मत्स्यपुराण में भी योके

बहुत परिवर्तन से हरिरचंद्र की कथा मिलती है। हिन्दी में भारतेंदु हरिरचंद्र ने चार्लेमेन्बर के पंडितों के आचार पर सत्य-हरिरचंद्र नाटक की रचना की थी और इसी पौराणिक कथा का आधार दिया था। रत्नाकर भी ने भारतेंदु के नाटक के आधार पर ही इस काव्य की रचना की है। नाटक की कथा से रत्नाकर भी की कथा का अन्तक बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

## २ खंडकान्य, गंगावतरण

गंगावतरण को भी खंडकान्य के अन्तर्गत किया जाता उचित है। गंगा वतरण में रत्नाकर भी की उत्कृष्ट प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यद्यपि वह कथा श्रीमन्नारायण तथा अम्ब पुराणों में भी उपलब्ध होती है किन्तु प्रकृतता वास्तविकीय रामायण से ही रत्नाकर भी ने इसे ग्रहण किया है। अज्ञान, धीर तथा कन्या रसों का परिपक्व इस काव्य में विशेष रूप से मिलता है। कथा-प्रकृत की रचि से वह एक सुसंगठित रचना है। बर्चन की क्लृप्ता के आधार पर इसे महाकाव्य की श्रेणी में रखने का प्रयत्न भी किया जाता है, परन्तु वास्तविकीय रामायण का एक अंशमात्र होने के कारण इसे प्रकृतता वास्तविकीय ही कहा जाता चाहिए। इस काव्य में भी कवि ने कथा-संघर्ष से अधिक बर्चनों पर ज्वाल दिया है। गंगा के महाह का बर्चन कवि ने अनेक रसों में बड़ी ही क्लृप्तात्मक शैली में किया है। सप्तम सर्ग से दो-एक उदाहरण दिए जा सकते हैं—

उड़ती फुड़ी की फव्व फव्वती फहरति ज्वलि ज्वारै ।  
 ज्यौ परवत पर परत मीन बावर दरसार्ह ॥  
 तरनि-किरन तापर विचित्र बहु रंग प्रकृतसे ।  
 इन्द्रधनुष की प्रभा दिव्य दसहूँ बिसि भ्रसे ॥ ३३ ॥  
 मनु विगंगाना गंग न्हाइ कीन्दे नित्र अंगी ।  
 नव भूपन नव-रत्न-रचिस सारी सत-रंगी ॥  
 गंगागम-यय माहिं मानु कैपौ अति नीकी ।  
 बांधी बम्बनबार विविध यहु पटापटी की ॥ ३४ ॥

बलाघराय उल्लेख करने में रत्नाकर भी उग्रज हैं। भारतेंदु हरिरचंद्र के समान इन्होंने वाग्दिकों का गंगा-स्नान बने ही मगौरम वृद्ध से विवित किया है। नवम सर्ग के अन्तिम अंश को पढ़कर भारतेंदु हरिरचंद्र के गंगा-कवि-बर्चन का स्मरण हो जाता है। गंगावतरण रत्नाकर भी का प्रियतम काव्य है और प्रकृत काव्यों के अन्तर्गत इसका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

## निबन्ध-काव्य

विशुद्ध बर्चवात्मक काव्य को निबन्ध काव्य के अन्तर्गत स्वाम प्राप्त होता है। जो ता प्रकृत के रूप में महाकाव्य तथा लघु-काव्य दोनों ही बर्चन प्रदान हो सकते हैं, किन्तु उन्हें निबन्ध-काव्य कहना उचित न होगा। आधुनिक काव्य के गद्य-साहित्य में निबन्ध का आविर्भाव तथा प्राचुर्य होम के साथ ही पद्यवात्मक निबन्धों का भी आविर्भाव हुआ, यों तो इन्त्य प्रचलन रीतिकाल में ही हो गया था। आचार्य रामचन्द्र की शुद्ध ने लिखा है :—

“कदाचित् प्रबन्धों से मित्र एक और प्रकार की रचना भी बहुत क्षेत्र में आती है, जिसे हम बर्चवात्मक प्रबन्ध कह सकते हैं। इनकीला मानसीला, बकविहार, वचविहार, सूत्रवा, मूला, हीही-वचन, बसोरसक-वचन, महक बर्चव, रामकबेवा इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।”

नवीन-आरा के आरम्भ में ही बौद्ध-बौद्धे पद्यात्मक निबन्ध लिखे गए। प्रथम अध्याय में पं० प्रतापनारायण मिश्र इस और मुके तथा उन्होंने इति वृत्तात्मक काव्य लिख। डिबेरी युग में जबकी मेरया से सीपी-सारी भाषा में इतिवृत्तात्मक पद्य लिखने की एक परम्परा-सी बन गई और इसका प्राचुर्य होने लगा। रत्नाकर की का हिंदोला, कटकगी, समाप्तोचनादरा इसी काठि के काव्य हैं।

### १ हिंदोला

इसमें शबाहृष्य के बुन्दावन बिहार और उनके मूकोयसक का बड़ा मना रम बर्चन कवि ने किया है। क्या-सूत्र कुस भी नहीं है केवल बचन की ही प्रबानता है। इस प्रकार का काव्य प्रमुख रूप से रसात्मक ही कहा जाना चाहिए। रस परिपाक ही पद्ये काव्य का प्रमुख अहरेय होता है। हिंदोला में कर दर्य तथा वातावरण के मिश्रण से कवि ने रसात्मकता तथा कलात्मकता का सुन्दर समन्वय किया है।

### २ फलफाशी

प्राचीन महाकाव्यों में बर्चन के अन्तर्गत बलुओं की सूची देने की प्रवृत्ति थी। विशेष रूप से जायसी ने पद्यात्मक में भोज्य-पद्यों कादि का वर्णन पसा ही किया है। भारत के बर्चन में हजारों प्रकार के घोड़ों का नाम गिलाए हैं। महाकाव्य के अन्तर्गत इसी प्राचीन बर्चनात्मक शैली को महत्त्व करके रत्नाकर की ने कटकगी में काठी के विस्तृत बैमक को अहित किया है। इसमें बर्चवात्मक काव्य के अनुसार एक अरना-मात्र का बर्चन है।

## ३ समालोचनादर्श

यह अलेग्जेंडर रीप के आलोचनात्मक निबंधों (Essays on Criticism) का पद्यानुवाद है। पद्यनतमक निबंध होने के कारण इसे भी निबन्ध-काव्य की श्रेणी में स्थापित किया गया है।

## निबन्ध-काव्य

निबन्ध-काव्य प्रधानतया मुक्तक और गीत में विभक्त किया जा सकता है।

## मुक्तक

इसको पद्यों में लारतन्त्र सम्मिल नहीं होता तथा प्रत्येक पद्य अपने में पूर्ण एवं रसोद्भेद करने में समर्थ होता है। मुक्तक पाठ्य एवं रीप दो प्रकार के होते हैं। पाठ्य में कवि छन्दस्थ होकर बर्णन करता है किन्तु रीप में कवि के भावों की विरोध रूप से अभिव्यंजना होती है। तुलसी और भूपाल के कर्बवच सवैवे, तथा बिहारी के दोहे आदि मुक्तक श्रेणी में आते हैं। रत्नाकर जी के अष्टक सहरिप्रय, प्रकीर्ण-पद्यावली आदि भी मुक्तक-काव्य हैं।

## गीत

साधारणतः गीत लक्ष्य एवं स्वर संयुक्त स्वामयिक प्रवाह की गीत-काव्य कहा जाता है। गीतकाव्य में भाव तथा रागात्मिकता आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है। बर्ष-निबन्ध का अभाव रहता है। ये गीत पद्यमात्र अन्तः-प्रेरित होते हैं। गीत भी ग्राम्य-गीत और साहित्यिक गीत दो प्रकार के होते हैं। दोही, आल्हा आदि ग्राम्य-गीत के अन्तर्गत तथा घूर, मीरा आदि के पद्य साहित्यिक गीतों के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य में साहित्यिक गीतों का ही विशेष स्थान होता है।

साहित्यिक-गीत कथाप्रधान भी हो सकते हैं। इनमें आत्म-निवेदन किसी पात्र के माध्यम से होता है। अमरगीत की परम्परा इसी साहित्यिक गीत-काव्य के अन्तर्गत मानी जाती है। प्रबन्ध-मुक्तक इसी साहित्यिक गीत के अन्तर्गत रना जा सकता है। रत्नाकर जी का उद्यच्छन्दक प्रबन्ध-मुक्तक माना जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें प्रबन्धात्मकता होते हुए भी भावों को तात्काल्य एवं स्वर संयुक्त अभिव्यंजना प्राप्त होती है और प्रत्येक पद्य पूर्ण रसाद्भुति प्रदान करने में समर्थ है।

## मुक्तक

मुक्तक काव्य की रचना के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों अपेक्षित होती हैं। या तो कवि की भावना इतनी अंतर्मुखी होनी चाहिए कि वह गीतात्मक

पैली में अपने भावों की अभिव्यक्ति करे अथवा उसमें काव्य चमत्कार को प्रकृत करने की आकांक्षा उत्पन्न हो। नीति, उपदेश की प्रवृत्ति भी मुक्तक रचना को प्रेरणा प्रदान करती है। बीरगाथा-काव्य में उपमुक्त गारी प्रवृत्तियों दृष्टिगोचर होती हैं। राष्ट्रीय काव्य में तथा बीर गीतों में वर्यपि क्या प्रकल्प की ओर ध्यान रहा किंतु मुक्तक हीली की प्रवृत्तियों में इस काव्य में उचित होती हैं। नति-संबंधी स्वतंत्र रूप में इस काव्य में विद्यते पद हैं, जो मात्रानुसृति की गहराई को व्यक्त करते हैं। चमत्कारप्रवृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है, जिसमें कवि क्लेशका कल्पनाओं तथा सृष्टियों के द्वारा कला का प्रदर्शन करता है। नीति उपदेश सबकी दोहो भी इस काव्य में मिलते हैं। मणिपुग विशेष रूप से अठसूती अनुसृष्टियों का पुग है। अतएव इस पुग में मुक्तक का बड़ा निरंतर हुआ स्वरूप देखा जा सकता है यद्यपि मत्तों में भी चमत्कार, वृत्ति का अभाव नहीं पा। सुर के श्रुतीली के पद इसके उदाहरण हैं। नीति, उपदेश की भावना से मुक्त मुक्तक भी इस पुग में प्राप्त होते हैं। रीतिकाल से गंगा, अक्षयका बीर कला का पुग पा ही। इस प्रकार रत्नाकर की के सम्मुख एक बड़ी मीठ परम्परा विकसित थी। जिसका उपयोग इन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया।

रत्नाकर की के मुक्तक काव्य की स्पष्ट रूप से इस दो भागों में बँटि सकते हैं विषय की दृष्टि से तथा रूप की दृष्टि से। विषय के अनुसार इनके मुक्तकों में विशेष बात यह दिलबारी पढ़ती है कि इन्होंने प्रायः सभी रत्नों की अभिव्यक्ति अपने मुक्तक पदों में की है। मुक्तक काव्यकार अधिकतरतः केवल कामल रत्नों की रचना ही करते हैं। सुर के काव्य में पद्म रत्नों का प्रायः अभाव है। मुक्तकी की विनयप्रिय में भी शक्ति तथा कदम्ब रत्न का ही प्राधान्य है। नीर, शीत, भवानक इत्यादि रत्नों का भी सफल परिपाक रत्नाकर की के मुक्तकों में मिलता है। गंगा हाथ, कदम्ब, शक्ति इत्यादि का सङ्केत तो मुक्तक लक्ष्मी के अनुसार हुआ ही है नीति, उपदेश इत्यादि का भी समावेश स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूप में किया गया है।

गंगा रत्नाकर जी का प्रमुख रत्न है। रीतिकालीन परिपाटी पर इन्होंने गंगा का अधिक से अधिक उदात्त पदों तक कि मर्पात्र का वर्तमान करन बाधा बसव भी किया है। चाञ्चल्य रत्ना-रूप्य का स्वतन्त्र उद्घोषण रूप में अनु-वर्णन अथवा प्रवृत्ति-वर्णन, व्यापक अनुमान तथा किन्तु ही संघर्षी भावों का किन्तु स्वतन्त्र रूप में काव्य में मिलता है।

आत्मन्वय रूप में कृष्ण का निम्नलिखित वर्णन रीतिकारकीय परिपत्ती के अनुसार ही हुआ है—

सो तो करै कसिब प्रकृत कथा सोरह सौ,  
 यामैं वास कसिब कथानि बौगुनी कैं है ।  
 करै 'खनाकर' मुनाकर कथाबै बह,  
 याहि कसैं लगत मुना कैं स्वाद फीकै है ॥  
 समथ सुधारि औ विसमता विचारि नीकै,  
 याहि हर घारि ओ विसद प्रज-टीकै है ।  
 बार पाँवनी कैं नीकै नायक निहारी कैं,  
 पाँवनी कैं नीकै कैं हमारें पाँव नीकै है ॥४॥

—शु गार कदरी

इसी प्रकार निम्नलिखित वन्द में वियोग शृंगार के अन्तर्गत कहीपन विभाव का मार्मिक वर्णन किया गया है—

हाय हाय करत विहाइ विन रैनि जात,  
 कटिबौ मुहात सवा सैननि सिरोही सौं ।  
 करै 'खनाकर' कवासी मुख छाइ वाति,  
 हाँसी बिनसाइ जावि आनन बिलोही सौं ॥  
 मूस प्यास धूम्रति मँबात महरात गात,  
 छार हँ विलात मुख-साज सब रोही सौं ।  
 हाय अति औप ही छदेग-अगि अगि अति,  
 अब मन लागि जाव काहु निरमोही सौं ॥

—शु गार कदरी

शु गार की यह परम्परा जहाँ एक ओर कुछ रीतिकारकीय परम्परा से प्रभावित है वहीं दूसरी ओर हमके ऊपर अन्धकारकीय भावना का प्रभाव भी लक्षित होता है। शृंगार-कदरी का प्रथम वन्द अल्पि सामान्य दृष्टि से शृंगार के आत्मन्वय नन्दकिणोर कृष्ण के रूप का वर्णन है, किन्तु दूसरी वन्द का प्रस्ताव जो शकरी और आत्मन्वय मन्व से लगाकर दिव्यदारी तक फ़िरका हुआ है, उसमें कृष्ण की अहोकिन्ता का आभास उत्तमतरुर्बक मिल जाता है। वन्द दृश्य है—

आपै इच्छात नन्द-महर-सङ्केतौ लसि,  
 पग-पग माइ-भीर अन्कति मयै है ।

रूप-रस-भावी चारु अपल चितौनि कुल,  
 गैल गहिबे को हठि हटकति आवै है ॥  
 अवनि-अधरस-मध्य पूरि विग-झोरनि को  
 छहरि छबीसी दृष्टा दृटकति आवै है ।  
 मटकठ आवै मंजु मोर को मुकुट भावै,  
 बदन सखीनी हट छटकति आवै है ॥१॥

—शुद्धार सहरी

इसी प्रकार शुद्धार-सहरी का द्वितीय कन्द राम को ब्रह्म करने बिजा  
 गया है। राम-विवाह के अक्षर पर मिथिलावासिनी नारियों के द्वारा उनके  
 बरतन का बरतन बनी अनेकान्यपूर्ण शोभा में किया गया है—

आप अन्धधेस के कुमार मुकुमार चारु,  
 मंजु मिथिला की विध्व बेसन निकारै हैं ।  
 मुनि रमनी-गन रसीली बहु झोरनि हैं,  
 झौरनि की झौर दौरि दौरि समगारै हैं ।  
 तिनके अनोखे-अनिमेप हग-पाँतिनि पै,  
 उपमा तिहूँ पुर की छलकि लुकारै हैं ।  
 उमठ अटारिनि पै खिरकी-बुवारिनि पै,  
 मानो कँध पु जनि की तोरन सनारै हैं ॥२॥

—शुद्धार सहरी

शुद्धारसहरी का तृतीय कन्द भी मरुमहमक शुद्धार का उदाहरण है,  
 जिसमें कवि अपनी अनन्य भाक्ति के सम्मुख सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों को छोड़  
 कर देना चाहता है, 'सब तज हरि भज' का सिद्धान्त इस कन्द के मूक में है—

अप न हमारो मन मानत मनाएँ नैकु,  
 टेक करि वापुरो विबेक नखि लेन देहु  
 कहै 'रतनाकर' सुभाकर-सुधा को धारै,  
 दपिठ पकोरनि अचाइ बखि लेन देहु ॥  
 संक गुरु लोगनि के संक तकिये की तधि,  
 अंक मरि सिगरी कलक सखि लेन देहु ।  
 तधि कुल-अनि के समाज पर गाब गेरि,  
 आज प्रजपन की लुनारै सखि लेन देहु ॥३॥

—शुद्धार सहरी



श गारविपपक इन मुक्तकों में कवि की अनुमृति, विचलकला, चम-  
कारपृति तथा कलात्मकता का सुन्दर समन्वय मिश्रता है। मुक्तक-काव्य  
का संगीतत्व भी इन कृत्तों में अनुप्रास की सहायता से सिद्ध कर लिया  
गया है।

श गारपुगीन कवि अपने आभयवाता की प्रशंसा में प्रशस्ति-काव्य की  
रचना किया करते थे। रत्नाकर की के सम्मुख बैसी कोई समस्या न थी।  
तगावतरण के अंत में इन्होंने अचचेरवरी भीमगदम्बा देवी के आदेशानुसार  
उक्त ग्रंथ की रचना की बात कही है। इस प्रशस्ति-काव्य का रूप रत्नाकर की  
ने बीर पूजा-रूप में प्रदत्त कर दिया है। इसके अनेक मारतीय गीत के  
पौराणिक अथवा ऐतिहासिक स्वल्प को लेकर विरचित हुए हैं। भाव और  
भाषा की दृष्टि से रत्नाकर की के काव्य का यह अंश बड़ा ही भोजपूर्ण बन  
पड़ा है। अमिमन्नु-सम्बन्धी विम्वसिधित कृत्त भाव तथा भाषा दोनों  
ही दृष्टियों से पूर्णतया सुसंगठित है—

‘धरम-सूपत की रजाइ बितबाही पाइ,  
भायी धारि हलसि हूप्यार हरवर में।  
फरै ‘रतनाकर’ सुमत्रा को अरैसो लाल,  
प्यारि उत्तराहू की रुक्यो न सरवर में।  
सारबूल-सावक विहुँह-मुह में ज्यों, स्यों ही,  
पैठ्यो चक्रव्यूह की अनूह अरकर में।  
साग्यो हास करन हृसास पर बैरिनि के,  
मुख अन्द-हास अन्दहास करवर में ॥१॥

—धीराहक, बीर अमिमन्नु

बीर काव्य के इन कृत्तों में कवि की हिंसुत्व-भावना बहुत कुछ स्पष्ट  
परिलक्षित होती है। बीर यह प्रवृत्ति उसे भूपय तथा मारतेन्दु हरिचन्द्र से  
मिली हुई जान पड़ती है। शिवाजी की पुत्र-बीरता का वर्णन करते हुए यह  
कवि कहता है, “साहसी शिवा के बाँके इस्का को भवइला बैकि, अस्ता अस्ता  
करत सुसस्ता भागो जाते हैं। ‘तब सदसा भूपय का स्मरण हो जाता है।  
श्रीलक्ष्मी की बीरता का वर्णन करने की प्रेरणा कवि को मारतेन्दु हरिचन्द्र  
के श्रीलक्ष्मी वाक्य से मिली है, ऐसा बहुत कुछ सम्भावित जान पड़ता है।  
विम्वसिधित यह बीर रस का सुन्दर उदाहरण है—

“दुर्गे से तदपि तबिता सी तदके ही कवी,  
 कबकि न पाए कबखार्हू अवे मुरगा ।  
 कहे 'रतनाकर' बसावन क्षगी यो वान,  
 मानौ कर फैल फुफुआपी मारि उरगा ॥  
 आसा द्वाधि मान की अमान की दुपसा मोंकि,  
 भागे जात गव्वर अवव्यर के गुरगा ।  
 वेनी दुरगावती मलेच्छ-दल गेरे देति,  
 मानौ वैत्य-दलनि दरेर वृत्ति दुरगा ॥१॥

—बीरब्रह्ममहाराणी दुर्गावती

द्विबेदी युग के इतिवृत्तात्मक काव्य में रत्नाकर जी के इस बीर काव्य का विशेष महत्व है। इन्हीं इतिवृत्त में भावुकता तथा कला का समावेश करते हुए पात्रों के कर्तव्यों को सुसंगठित मुक्तक रचना का पथ-मार्शन किया है इसमें कोई संदेह नहीं। रीति और मदानक रसों का समावेश बीर के साथ ही साथ हो गया है।

हास्य का बर्णन कवि ने अधिकांश स्वतन्त्र रूप में न करके सहायक रूप में ही किया है। गद्यर अथवा मक्ति के संचारी रूप में कवि ने इस रस का बर्णन किया है। मक्ति के सहायक रूप में कवि ने एक मवीरों-जक रूप का चित्रण किया है। भगवान् शंकर कृष्ण के अतीव्यजन पर इतने मुग्ध हो जाते हैं कि मंग ज्ञानना शीबन्ध तथा शैल-सुता को साथ बंधन ठसी की मजुर स्व-राहरी सुवने के लिए नन्दी पर सवार होकर ब्रह्म बैठे हैं। कवि की कल्पना में एक बड़ा ही रोचक हास्य का भाव विद्यमान है :—

बैठे मंग ज्ञानत अनंग-अरि रंग रमे,  
 अंग-अंग आनंद-रंग छवि छावै है ।  
 कहे 'रतनाकर' कबूक रंग रंग औरै,  
 एकएक मत्त हवै मुसंग वरसावै है ।  
 तैया तोरि साफ़ी छोरि मुस विजया सौ मोरि,  
 जैसे कंस-नाथ पै मलिन्य मंजु धावै है ।  
 बैस पै विराजि संग सैख-रनया है वेगि,  
 अरु बले यौ कन्ह वासुडी वजावै है ॥२॥

रामानन्द के अन्तर्गत कवि ने जीवन की अनित्यता की धोर पाठक का ध्यान आकर्षित करते हुए सृष्टि-मात्र की चरमगुरता का उल्लेख किया है। अद्यपि ऐसे कवनों में भी कुछ कलात्मक भावना ही प्रयत्न दिखाताई पवती है तथापि कवि पाठक के हृदय में निर्बल की भावना आवृत करने में सफल हुआ है इसमें कोई संदेह नहीं।

नैति उपदेश के अन्तर्गत कवि ने जयपे दोहों में रहीम, बिहारी तथा कृष्ण के समान कुछ कलात्मक शैली में नैति का कथन किया है। इन उपदेशों में कवि ने जीवन की सामान्य घटनाओं अथवा मान्यताओं के आधार पर उदात्त अथवा उदाहरण प्रसंग के आधार पर जीवन का आदर्श विर्मित करने का प्रयत्न किया है। अन्तप्रस्त व्यक्ति की दृष्टीय दृष्टा का बतन कवि ने इन प्रकार किया है—

“श्रुती धनी सौहं परत यौ परिहरत उदोत,  
देसत दिनकर वरस ज्यौं बन्द मन्द मुख होत ॥”

—दोहावली

मनुष्य को बतित है कि समय धीरे मुखपूर्वक रहते हुए अपने पक्षी की ओर भी सुनी बनाए रखने का प्रयत्न करें। इसी में दावों को मुख मिलेगा। उदाहरणार्थ कवि कहता है ‘अन कहाती सुनते हैं धीरे निद्रा (मुख) मैनी को प्राप्त होती है—

‘अतन परोसी-नैन कौ करियौ अति मुख देत।  
सुनत कहानी कान ज्यौं नैन नींद के हेत ॥ ४ ॥

—दोहावली

नैति-उपदेश का दूसरा स्वरूप प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है। इसमें कवि ने अन्वोक्ति का सहारा ग्रहण किया है। अन्व के अन्तर अन्वोक्ति करते हुए उसने अमिमप्रियों को चेतावनी दी है कि वे घोड़ा-बहुत सम्मान पाकर अन्वित अर्थात् सऽ पुरुषों के सम्मुख अर्हकार न प्रकट करें—

“आयसु है टेरि बलि पायस स्ववैए स्थिन,  
निद्र गुन रूप की हमायस बढ़ावै ना।  
फरे ‘रतनाकर’ स्यौं वापरी वियोगिनि क,  
कवन मड़ाए बन्धु नाम पित स्यावै ना ॥  
निद्र तन धारे इन्द्र नन्द मतिमन्द जानि,  
मानि दग-हानि द्विय होस द्रुमसावै ना।

इस की दिखावै ना मूर्त्तस गति गर्बे छ्दक,  
परे छ्दक कोच्छित कौं छ्दकली मुनावै ना ॥

—अथोक्ति

इसी प्रकार हीपक पर अथोक्ति करते हुए इन्होंने इस सत्पुरुष का गुणगान किया है जो सबको समान रूप से प्रकाश प्रदान करता है:—

“कत्रि पंडित के पाम होत भावर अधिच्छरी ।

सुजन-समा में करति प्रभा वाक्छी चजियारी ॥

पै यह छहि सनमान नैकु निज पानि न त्यागत ।

सपही के उपधर हेत एकहि सो जागत ॥ ३ ॥

नीच इच्छी मूढ़ बूढ़ मूरख पापी कौं ।

देत प्रधस समान रूप रुषि सौं सपही कौं ॥

स्वर्न रखत के पात्र माहि नहि अधिक प्रधतै ।

नहि माटी के पटित दिया में कहु पटि मासै ॥

जब रोम-रोम इमि नेह भरि गुनमथ सबको हिस करै ।

तब छहि पदवी कुल वीप छे वीप-वीप वीपति भरै ॥४॥

—वीपक

संक्षेप में रखाकर जी ने अपने मुक्तकों का क्षेत्र बर्नात रूप से व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है, इनमें प्राचीनता और प्राचीनता का सफल सम्मेलन देखा जा सकता है। प्राचीनता के आधार पर यदि वे कबलमकता को विशेष आश्रय देते हैं तो आधुनिकता की दृष्टि से अपने मुक्तकों को अनुमूर्ति-पूर्ण बनाने का प्रयत्न भी करते हैं। नेत्रत्व का गुण तो प्राचीन तथा आधुनिक मुक्तकों में समान रूप से विद्यमान है ही।

रखाकर जी के मुक्त-काव्य को ज्ञान के अनुसार विद्यमान करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन्होंने प्रधानतया कश्चित (चनाचरी), सदैवा बोद्धा तथा जो चार बरबै तथा ज्ञाप्य का प्रयोग किया है। इन सब वर्णों में भी कश्चित अथवा चनाचरी का स्वाद ही प्रमुख है। इसके अपरांत सदैवा तथा तीसरे स्थान पर बोद्धे का प्रयोग किया गया है।

मुक्त की दृष्टि से चनाचरी पर दृष्टि डालते हुए हम इसके द्वारा कश्चित धर्मित भावाधुपति कबलात्मकता, कर्मकरवृत्ति तथा नेत्रत्व पर दृष्टि डालेंगे।

भावाधुपति मुक्त का एक विशेष गुण है। ‘बद्ध रतक’ में विषोग की गहरी अनुमूर्ति का विषय रखाकर जी ने सांख्यिक शैली द्वारा बड़ी सफलता

के साथ किया है। अनुभावों के चित्रण के द्वारा भी इन्होंने कवगत गहरी अनुभूतियों का सफ़ल चित्रण किया है।

- भाये दौरि पौरि लौं अवाई सुनि ऊमय की,  
और ही विखोकि वसा दग भरि लेत हैं।  
कई 'रतनाकर' बिलोकि-विसलात उगहें,  
येऊ कर काँपत करजें भरि लेत हैं।  
आवति कष्टुक पूछिबै औ फहिबे को मन,  
परत न साहस-पै दोऊ वरि लेत हैं।  
अ्यानन उदास साँस भरि तकसौं हैं करि,  
सौं हैं करि नैननि निषाँ हैं करि लेत हैं ॥१०५॥

—उद्बन्धनक

उपरोक्त अंश में उद्बन्ध तथा कल्प्य दोनों को कदम विरामोप्राप्त विद्वष्ट सबःस्थिति का चित्रण कवि ने केवल अनुभावों के प्रदर्शन से बड़ी सञ्जलता-पूर्णता किया है। इस प्रकार की गहरी अनुभूतियों की स्पष्टता मुख्यतः काव्य की विशेषता है और रसाकर की इसमें सिद्धास्त है।

कलात्मकता के अन्तर्गत कवि की कल्पनाएँ, सृष्टियाँ आदर्शकारिकता इत्यादि को रखा जा सकता है। उद्बन्धनक में इस कलात्मकता की प्रभुरता का दर्शन होता है। उच्चाप से जल का उबलना और चारों ओर फैल जाना एक प्राकृतिक घायात है। राधा के हृदय में विभोगाति के प्रज्वलित होये से इसके नेत्रों में भरा हुआ क्लृप्त-सीम्बर्ष का जल उच्छ होकर फैल जायगा, जिसके क्लृप्तस्वरूप सम्पूर्ण संसार में प्रसृत हो जायेगी। यह कवि की विद्वष्ट कल्पना है—

हरि-तन पानिप के भाजन दंगचस हैं,  
जमगि उपन हैं तपाक करि धावै ना।  
कई 'रतनाकर' त्रिलोक-धोक-मंडल में,  
बेगि जह्यत्रव उपत्रव मचावै ना ॥ १  
हर की समेत हर-गिरि के गुमान गारि,  
पल में पतासपुर पैठन पठवै ना।  
फैल बरमाने में न रावरी क्यानी यह,  
बानी कई राधे आय धन सुनिपार्यै ना ॥१०६॥

—उद्बन्धनक

उद्बन्धनक में अनुबन्धन का समुच्चय ही देखी ही कथनाओं से परिपूर्ण है। रूप तथा वातावरण का चित्रण रत्नाकर की ब बड़ी सफरता से साथ किया है। अत्र ही कठिने समय उद्बन्ध की आत्म-विस्तृति की वरा का बड़ा ही मनोरम वर्णन कवि ने कुछ थोड़ा-सा विनोदरस्यक वर से किया है। अनुसृति की सीमता, भावों की सुकुमारता तथा कलात्मक-अभिव्यक्ति इस सभी तर्कों का सामग्रस्य इस वद में देखा जा सकता है—

प्रेम-मद-द्वारे पग परत कहीं के कहीं,  
 याके अंग नैननि सिविलता मुझई है।  
 कहे 'रतनाकर' यो आनस बकात उधो,  
 मानो सुबियात कोऊ भावना मुझई है।  
 यास घय पै ना-उदार अति आनर मा,  
 सारत कहीलनि ओ अँस-अभिचार है।  
 एक कर राझे नबनीत जमुदा की वियौ,  
 एक कर बंसी दर राधिकर पत्राई है ॥१००॥

—उद्बन्धनक

काम्य में अलंकारों का प्रयोग मात्र की स्पष्ट अभिव्यञ्जना के लिए किया जाता है। रत्नाकर की ने उपमा, रूपक, अलंकारि रत्नेय, अयोनि इत्यादि बहुप्रचलित अलंकारों का सकस प्रयोग अपने मुक्तकों में किया है। यद्यपि कहीं कहीं पर रत्नेय अदि के प्रयोग के कारण उनका काम्य अकार-मयान हो उत्रा है, किन्तु फिर भी अलंकारों की सहायता से उन्होंने एक विशेष आनुरूप तथा इरनमाहिता उत्पन्न कर ही है। एक ही मात्र की क्यापिच प्रदान करने के लिए रूपक का उपयोग बहुत सफल होता है। उद्बन्ध के इरन-परिवर्तन तथा समुच्चय के प्रति उनमें आस्था की अरुचि का वरान कवि ने पारा-मस क रमा-बन्ध-निर्माण के रूपक द्वारा किया है। कवि के आपुर्बन्ध 'जा' के आकार पर इस रूपक का सफल किया गया है। कवि की अलंकारिक-कला का यह एक सुन्दर उदाहरण है—

“दीन्यो प्रेम-नेस गुस्सागि गुन कपव की’  
 हिय सौ हमेक-इस्याइ पहिणइ कै।  
 कहे 'रतनाकर' त्यो कंचन वनाइ कय,  
 ज्ञान अभिमान की समाइ दिनमाइ कै।  
 पावनि ही शोक सौ घमाई पहुँ कोवेनि सौ’  
 निज विरहानस तथाइ पपिष्याइ कै।

सूक्ति आति स्वाही लेखनी के निकुं डंक लागे,  
अंक लागे कागड बररि वरि सात है ॥१००॥

—उदकपतक

इसमें शारीरिक कृत्ताप के द्वारा लेखनी की लोक से स्वाही सुक जाना तथा कागड का 'बररि वरि' जाना स्वाभाविकता की सीमा के बाहर की बातें हैं। इस प्रकार आतन्द्रिकता के आचार पर कलात्मकता तथा कमलकर दोनों ही की सृष्टि रत्नाकर जी के कव्य में सञ्जततापूर्वक हुई है। इनके मुक्तकों का क्षेत्र इस दृष्टि से व्यापक कहा जा सकता है।

सवैया कव्य भी मुक्तक का एक बहु-अव्यक्त तथा श्लोकमय कव्य रहा है। इस कव्य में संगठितत्व बनाचरी से अधिक प्राप्त होता है। बनाचरी में भी गेयत्व गुण विद्यमान है, किन्तु सवैया अधिक भावुर्य तथा प्रवाद से युक्त होता है। रत्नाकर जी ने अधिक सवैयों की रचना नहीं की है, किन्तु जो कुछ रचना उन्होंने की है उसमें इनका भावाधिकार, कलात्मकता, तथा भावुकता स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। रसकान्ति की मञ्जुरता का धामास हमें रत्नाकर जी के सवैये में मिलता है—

जोग को भोग न जैहे हमै सो संजोग की भावना टारी न जैहे ।  
रम्मसुधा-रतनाकर छाँकि सुपा मृग-नीर निचारी न जैहे ॥  
होइ न व्याइबे पाइबे, की परी उखव सो अब हारी न जैहे ।  
धारी न जैहे विहारी कही यह मूरति मंजु विसारी न जैहे ॥१०॥

—मञ्जीर पद्यावली स्रुत कव्य

बंदा-सम्बन्धी उपासाम्भ भी रत्नाकर जी ने रसकान्ति के समान ही दिये हैं:—

भाय नए पित चाव नए अनुभाव नए उपपजति ही रहै ।  
भाँस सों नैत उहाँस सों आनन गँस सों माननि द्वाजति ही रहै ॥  
कीजै कदा 'रतनाकर' हाय अक्षर के साजनि साजति ही रहै ।  
अनन में विन पाजे हूँ बैरिन अनन में नित वाजति ही रहै ॥१०॥

—मञ्जीर पद्यावली स्रुत कव्य

रत्नाकर जी विदारी के भक्त थे। इन्होंने विहारी-सतसई का गम्भीर सम्बन्ध-रिपण था। इन्होंने दोहे की कला का पर्याप्त ज्ञान था। इन्होंने स्वयं भी कुछ पाये से दोहों की रचना की है। इन दोहों में समान गुण का कला रत्नाकर जी के भावप्रियकर को सञ्जतता के साथ स्पष्ट करती है। इनके

विम्विहित शोहे में विहारी की शक्तिमत्ता और शैली ज्यों की त्यों फलफली दिखाई देती है —

मौ चितबनि डोरे परुनि, असि अटार फँद वीर ।  
कटव फटव वींघव विघव, जिय हिय मन तन वीर ॥१॥

—शोहाबसी

- आशा के बन्धन में बँधे हुए माय-पलक की विकलता का चित्रण इन्होंने अपनी शब्द-शक्ति के द्वारा बड़ी मार्मिकता के साथ किया है ।

आस-वास में परि रह्यो, प्रान-पलक पाइ ।

-- हाथ करत पंजर गरठ, परत न तऊ उड़ाइ ॥१०॥

—शोहाबसी

अमुमास तथा बमक की सहायता से इन्होंने कलात्मक रूप चित्रण भी प्रस्तुत किया है —

चन्द-सुखिनी के बुन्द-विष निरस्त भ्राजवचंद् ।

फते चन्द बिलोकि मो चन्द पवित्र-चित मंड ॥५॥

—शोहाबसी

रहीम तथा तुलसी की बरसै शैली से भी रनाम्र जी प्रभावित हुए थे और इन्होंने ठीक वार बरसै भी रचे हैं । 'भक्ति तथा मन्त्र का सुन्दर समन्वय इन्होंने दर्शित होता है ।

सदैव में रनाम्र जी एक कुशल-मुग्धकार थे । इन्होंने अपने युग की एक कर्ती प्रवृत्तियों संकेत रूप में दिखाई पड़ती हैं । कला इतनी वाच्य-रचना का आचार है । मुग्धों में वह कला पर्याप्त मात्रा में प्रकृतित हुई है । प्रथम रचना वर हमका विरता अविचार है बमस कटी अचिन्त मुग्ध-रचना पर है ।

### उद्भवशतक पर विशेष विचार

इस एषाव पर हमें उद्भवशतक की रचना-शैली पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है । उद्भवशतक में मुग्ध और मर्षण दोनों ही काव्य-रूपों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है । सामान्यत उद्भवशतक को मुग्ध की श्रेणी में रखा जा सकता है । अन्तरासुगीय कवियों से उद्भव-गोपी मन्वाद को अन्तर उसके विविध रूपों का चित्रण स्पष्ट नहीं है, प्रकृततया मर्षण और मन्वादी में किया है । उद्भव-गोपी-मन्वाद की कथा की और उभकी दृष्टि कनी इतनी आमहर्षक नहीं रही कितनी दर्शकन अथवा वाग्निदग्धता की और । दूसरे वह कथा इतनी लोकप्रचलित है कि उनके लिए किसी मन्त्र का एकीकरण



कश्चित् कल्पतरु माँहि कटुक माहुर फल आसौ ।  
 विधि कर्त्तक की पंक विमल-विद्यु अंक लगायो ॥१६॥  
 लक्ष्मी श्रीका विपम माँहि पीका अग पावत ।  
 पुर बालन बहु पकरि सदा सो सरित कुवापत ॥  
 धीन प्रजा दुख पाइ-पाइ नृप-द्वार गुहारति ।  
 सहत भूप संताप बहत तिनकी अर्ति आरति ॥१७॥  
 मुनि पुकारि इक धार नीर नैननि नृप ठार्यौ ।  
 मुरत ताहि तजि नेह गेह सौ बुरि निकर्यौ ॥  
 जैसे अब बहु करि उपाय भोपधि, द्विय हारत ।  
 सब अंगनि दुख देत वंत मुधिर्वंत उखारत ॥१८॥  
 ताको सुत सुम अंमुमान फल-कीरतिपापी ।  
 प्रियवादी प्रियरूप भूप-परिजन-हितकारी ॥  
 मयो जुवा है भीर वीर बरिषड प्रतापी ।  
 परम विनीत पुनीत नीति-मरजादा-बापी ॥  
 वियौ राज को काज ताहि सुवराज बनायो ।  
 अस्वमेध के करन माँहि भूप निज मन क्षायौ ॥  
 योधि साधनी-पुज मंजु मंडप रचवायो ।  
 आधी सोभा निरखि विम्वकमा सङ्कपायो ॥१९॥

इसी काव्य में अनुबं सग में बुद्धात्मन का वर्णन कवि ने ध्यास शैली में किया है। बुद्धात्मन के बीच गौरवर्धन वर्धत मनोरम प्रकृति गोपियों का विहार, गायों-बद्धों का चरना तथा उनका सीम्पूर्ण वीर इन सबका बीच में राधा-कृष्ण का समन्वित सुन्दर रूप इन सबका बड़ा ही विस्तृत वर्णन कवि ने किया है। कवि की ध्यास शैली का यह सुन्दर उदाहरण है।

आबसी अपका रीतिमालीन कवि सूदन की शैली पर कवि ने कल्पुषों की सूची गिनावैवासी परम्परा को भी अपनाया है। इस शैली के द्वारा अपनी बहुज्ञता का परिचय देना ही मानों कवि की ध्येय रहा है। मोज्ज-बलु आमृष्य राज इत्यादि न जाने कितनी अमंगिनत कल्पुषों की एक लम्बी सूची कवि ने प्रस्तुत की है। यह सूची हमारे मन में एक कर्कशता का अक्षर उल्लेख करती है, परन्तु इसमें कोई विशिष्ट आकल्प नहीं होता —

सार्तीपुर महराम नागपुर थी बल धेती ।  
 इषिय पाटमय पाइ निपुनता की अनु मोती ॥

ठाके । श्री मन्नमन्न सु बोरिया राधानगरी ।  
 विन्दुपूर मुरसिदाबाद पाटवर पगरी ॥८॥  
 —कन्नकामी

\* \* \* \* \*  
 कश्चित् लायपा दरियाई च्योली पंजाबी ।  
 तिन्वत के संपूर दाल रूपी संजाबी ॥  
 साल दुसाले कश्चित् कृपागामी कस्मीरी ।  
 दिनके नरें जात सीत नहिं सिस्तिर समीरी ॥६०॥

—बही

मुक्त्यों में भी इन दोनों शैलियों का प्रयोग कवि ने सफ़लतापूर्वक किया है । समास शैली का प्रयोग मुक्त्यों में विशेष बंधित है । जहाँ पर कवि छाप चित्रण करता है वहाँ इस शैली की सफ़लता विहित होती है । बीराहकों में यह शैली सफ़लतापूर्वक प्रयुक्त हुई है । भाष्प के साथ युद्ध करते हुए कृष्ण-कण्ठ न के एक शक्ति कार्य-कलाप का चित्रण कवि ने बही सफ़लतापूर्वक निम्न चित्रित रूप में किया है—

झूठो अबसान मान सफल धनंजय को,  
 भाक रही धनु में न साक रही सर में ।  
 कर्से 'खनाकर' निहारि करुनाकर के,  
 भार्य कृष्टिछाई कबू मौहनि कगर में ।  
 रोकि मर रंचक अरोक घर धाननि की,  
 मीपम धौ-भाप्यो मुसकरइ मंद स्वर में ।  
 पाइत वित्रै कौ सारबी लौ कियो सारय धौ,  
 कक करौ सुकुटी न, बक करौ करं में ॥५॥

—भीष्मप्रतिज्ञा बीराहक

जिन स्थलों में कवि बातावरस तथा सौन्दर्य का चित्रण करने लगता है, वहाँ पर मुक्त्यों में भी यह व्यास-शैली का उपयोग करता है । एक-एक कण्ड एक-एक भाग को विलुप्त रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित करता है । रत्नाहकों में अधिकतर उसी व्यास-शैली का उपयोग किया गया है । तुलसी की गुण-वलि प्रीपत्री का कदम्ब-कन्दन अथवा कदुधौ का व्यापक-प्रभाव अभिव्यक्त करने में कवि ने व्यास-शैली का प्रयोग ही प्रमुख रूप से किया है । दोहों में कहीं-कहीं समास शैली का सुन्दर बदाहंरस परिगोचर होता है । स्वर्ण

कहै 'रतनाकर' वदन दुति औरै मई,  
 बुरै छरै छलकि दगनि मेह-नाथे वै ।  
 धारं छठि धार म उबारन में छारै उख,  
 पंचक्य हू चरित रही हू बेग-साथे वै ।  
 आमत वितुण्ड की पुकार मग आर्थे मिली  
 झौंठव मित्यौ छौ पच्छिणउज मग आवे वै ॥११॥

—गकेन्द्र-मोचरक

विम्बलिकित बंद में कवि ने 'अुमा' अर्थकार का प्रयोग किया है —

आमत निहारे हौ गुपाल एक बाल जकरी,  
 झग्यौ अपमा में कवि ओविद समाज है ।  
 तरन दिनेस दिव्य अरुन अमोक्ष पाय,  
 धीन कटि केहरि औ गति गजउज है ॥  
 संभु कुच मुख पदमाकर विमाक देव,  
 नापै धनआनैह धनेरी कच-साज है ॥  
 धपि की तरंग रतनाकर है अंग मुस  
 अनि रम-न्यानि धानि आलम निबाज है ॥१॥

—म गार लहरी

अपूर्वक बंद में बाबिह्य के सौंदर्य-वर्णन के साथ ही साथ हिंदी के कुछ प्रमुख कवियों के नाम भी आ गये हैं। विम्बलिकित बंद में कवि ने विमाकना, प्रतीप, सम अम इत्यादि अर्थकारों का एक साथ समन्वय कर दिया है अमक और अनुमास तो विचित्र हैं ही—

"अंजन बिनाहूँ मन-रंजक निहारि रहै,  
 गंजन हूँ अंजन-सुमान सटे जात है ।  
 कहै 'रतनाकर' विलोकि इनकी त्यों नोच,  
 पंचकान धाननि के पानी पट जात है ॥  
 स्वच्छ मुखमा की ममता की दृष्टा मौं जिनै,  
 विविध मरोजनि सौं होज पट जात है ।  
 रंग है री रंग तरे मैननि मुरंग देखि,  
 मूक्ति मूक्ति बाँकड़ी सुरंग कटे जात है ॥२॥

—धारा लहरी

गद्य के विभिन्न गुणों पर परिभाषा करते हुए कवि ने उत्कृष्ट अर्थकार द्वारा उसकी महिमा का वर्णन हम प्रकार किया है।

“विधि शरदामक की मुहूर्ति-सपुटि-कृति,

संसु सुत-नायक की सिद्धि की मुनाकर है।

कहै रतनाकर त्रिलोक सोक नासन कौ,

अतुल विधिक्रम के विक्रम की साकर है।

अम-भय-भारी-ठम-ठोम-निरवारन कौ

गंग यह राखी तरंग तुंग राख है।

सगर-कुमारनि के वारन की सेती सुम,

मूर्ति मगीरथ के पुन्य की पठाका है ॥१०॥

—गंगाधरी

इसी प्रकार बुद्ध की श्रमता तथा उसके प्रसार और गुणों की श्रमता गद्य की श्रम तथा उसकी पाठकों तथा उनके स्वरूप पश्चात् ही करते हुए कवि ने महाशब्द में मगीरथ के सुवचन की उल्लेख की है। सरिता के स्वामयिक पश्चात् का सुन्दर वर्णन करते हुए अपने प्रकृति-धर्म का भी परिचय दिया है। हममें उसके सूक्ष्म परीक्षण का परिचय भी मिलता है—

“संसु की खटा त कदि चन्द की क्षुण्णी सी फेरी,

हिम के पटा वै प्रमा-मुञ्जनि पसारै है।

कहै ‘रतनाकर’ सिमिटि बहूँबा त पुनि,

झोटे-झोटे सोठनि के गोत ली डपरै है ॥

मिलि मिलि सोठनि त नारे बहु बेगि वन,

घार है अपार पुनि पोर रोर पारै है।

सगर-कुमारनि के वारन कौ भाषा किए,

मानहु मगीरथ की पुन्य लखधरै है ॥११॥

—गंगाधरी

सन्देह उल्लेख विरोधाभास इत्यादि अर्थकार रचनाओं की के विषय अर्थकार हैं और उनका स्वामयिक प्रयोग इनके अर्थ में अपने धार अर्थकार बता जाता है।

राजार्थ-भरी में अनुप्रास पदों और बीप्सा जैसे अर्थकार उन्हें विषय हैं। अर्थकार के द्वारा अर्थकार-अर्थकार तो वे निरन्तर करते ही रहे हैं। इन अर्थकारों के दो-दो अर्थकारण इस प्रकार हैं—

शब्दों के कलात्मक प्रयोग के द्वारा कवि ने अपने विषय को बड़ा ही ममाक्याली तथा मार्मिक बना दिया है। जीवन शब्द बल तथा माय दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। "बर्हिनी मरि गर्ह" वाक्यांश को मुहावरे के रूप में प्रयुक्त किया गया है। सम्पूर्ण वर्णन में कलात्मकता बहुत सजीव होकर उपस्थित हुई है।

उद्दीपन के रूप में मेवों के गर्जन की अनुकरवाचाली शब्दावली का निर्माण करके कवि ने कविकर सुवन की शब्दावली का स्मरण दिखा दिया है। कामदेव के नगादों के समान मेव-गर्जना का वर्णन कवि ने बड़ी शोचपूर्ण भाषा में किया है। स्पष्ट है कि हम वर्णन में शब्द चयन की कला ही प्रयुक्त है—

आए चहुँ धोरें तैं भुमहि धनपोर धेरि,  
 उकतन सत क्यौं मर्तग मत्पारे हैं।  
 कही 'रतनाकर' धराधर अक्षस घण,  
 एकमेक हूँ कै भूमधार रंग धारे हैं ॥  
 कतदान कजाम भ्राम येवेम भङ्गदान,  
 धमकतान धपकतान धधकतान धारे हैं।  
 मनसा-महान-विस्व-विजय-विधान आनि,  
 बाजत ये मदन-महीप के नगारे हैं ॥१५३॥

—शुद्धारसदरी

अनु-वचन के अतर्गत अनुस्वारयुक्त शब्दावली के द्वारा कवि ने एक अनोरम संगीतात्मकता उत्पन्न की है। हेमत के विज्ञानपूर्ण बलाधरय का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मौञ्ज भरि साञ्जन मनोज्ञ-सेज मौन लगी,  
 आतुर तुण्ड की तुलार्ह होन लगी है।  
 कही रतनाकर रंगीन बीर जोञ्जनि की,  
 परदे अमोज्जनि की धोत धित पागी है ॥  
 आहत हिम्मत दूरि चंदन कपूर भण,  
 केसर कुरंग-सार माहि रूधि रागी है।  
 मुमिरि अनंद केसि मंदिर की मुदरीनि,  
 अमित अमंग की तरंग अंग आगी है ॥१५४॥

—शुद्धारसदरी

शुद्धार का विषय रमाकर जी का चयन विषय है। उसका क्लिप्त वर्णन चयन के लिए पर्याप्त स्थान चाहिए। वहाँ पर हम केवल इतने परिचयमात्र स

ही संतोष करते हैं। कियोग म्यार का एक संवेदनात्मक चित्रण देकर हम यहाँ संतोष करेंगे।

अंतक सौ बिखी जुन श्री सुनि बायु वसंत श्री वागन छागी ।  
 अगनि के हित अंग श्री पासी नए फटरगनि रागन छागी ॥  
 कुंजनि गुंज मधुव्रत श्री विप के रस श्री रुषि-पागन छागी ।  
 पूसे प्रजास श्री आगनि सौ वनवाग इवाग सी स्यागन छागी ॥ ११२ ॥

— म्यारबहरी

### नाद-व्यंजना

समाबोधनादर में रत्नाकर जी की विस्तृत विस्तृत पंक्तियाँ व्यंजित की हैं —

“एसी ही नहीं छट सवा कविता में, भाई,  
 वै कर्कसता सहृदय के न होहि सुखदाई,  
 परभावस्यक धर्म, धरन, यह सुमति प्रकसे,  
 के रचना के राष्ट्र अम-मलिन्यनि से भासे ।  
 बहिषत केमल धरन पवन जई मंद, बहुत धर,  
 सरिता सरल वाज धरनन हित छन्द सरलतर,  
 वै भैरव धरंग जई रोहित छट दृश्यै,  
 बसुत, उद्यत धरन, प्रकल प्रवाह सौ भाषे ॥”

उपरोक्त पंक्तियाँ रत्नाकर जी के काव्य में नादात्मक अनुकरण को बहुत कुछ स्पष्ट कर देती हैं। प्रजावरण के अनुकूल वाद-व्यंजना का सगठन रत्नाकर जी की विशेषता है। कविवर सुर, गन्धवास, विहारी, देव, वनामन्द आदि कवियों ने इस नाद-व्यंजना की रीति का पाठन समय-समय पर किया है। गन्धवास की (इस कथा में) इन कवियों से प्रेरणा मानी गई है। रासर्षणा-प्यायी में रास, तुल्य का चित्रण कवि ने ऐसी भाषा में किया है जिसके द्वारा

‘Tis not enough ho harshness given offence  
 The Sound must Seem an echo to the Sense—  
 Soft is the strain when Zephyr gently blown  
 And the smooth in smoother numbers Flows—  
 But when Loud Surges lash the Sounding shore,  
 The hoarse rough verse should like, the torrent roar”

सम्पूर्ण रूप सत्र ब हो उठ्य है । नृत्य के पूर्व वाद्य-यंत्रों की ध्वनि का मंत्र-पूर्व मोहक-बर्धन कवि ने इस प्रकार किया है—

मधुर कंचन किंचिन् करतल मंजुष्य मुखी ।  
 तल्ल मृदग सर्पग र्पग वीना ध्वनि जुरखी ॥ १३ ॥  
 मृदुल्ल मुख टंकर तल्ल भंकर मिथी धुनि ।  
 मधुर संघ श्री चार भंवर गुंवार रखी पुनि ॥ १४ ॥  
 मिथि सु मई एक अद्भुत धुनि तिहि सुनि मुनि मोहे ।  
 सुर नर गत गन्धर्व कहु न जानत हम को है ॥ १५ ॥<sup>१</sup>

इसी प्रकार नृत्य के अन्तगत तल्ल का सामान्य निम्नलिखित पद्यों द्वारा बड़ी सज्जता के साथ दिया गया है :—

कल्ल किंचिन् गुंजार चार सुर वीनाहू पुनि  
 मृदुल्ल मुख टंकर भंवर हंकर मिथी धुनि ॥ २६ ॥  
 पव पटकनि भू पटकनि चटकनि कठ तारन श्री ।  
 गज-गति मुसकनि मल्लकनि कज कुंडल हारन श्री ॥ १० ॥<sup>२</sup>

रोमा कन्द की प्रवाहमयी शैली तथा ककारमक भाषामिथ्यजना बन्धुवात की क्लिष्टपदा है । रत्नाकर जी ने भी पौष के सिद्धान्त के अनुसार गङ्गास्तरण में गंगा के प्रवाह का शब्द-चित्र बड़ी सज्जता के साथ प्रस्तुत किया है । सम्पूर्ण अष्टम-सर्ग इसी प्रकार के शब्दाकुसरल से परिपूर्ण है । कहीं गंगा की शुभ्रता तथा प्रकाशमयी रोमा का बरन है, कहीं उसके प्रवाह का ओजपूर्ण चित्र है, कहीं पत्थरों के टुकड़ों का जोर रव सुनाई पवता है और कहीं पर उसकी जारा की बरबराहट, मरमराहट तथा घमक प्रतिध्वनित शब्दों के द्वारा स्पष्ट हो जाती है । उदाहरणार्थ :—

कहुँ डारे डोकनि बुद्धइ निज गति अचरोधति,  
 पुनि डकेलि बुद्धइ तिगुँ पक्यो मन सोधति ॥  
 कबहुँ धसति कठराइ बरु नब बाट कटि गरि ।  
 कबहुँ पुरि जस-पूर कूर ऊपर धमदि पदि ॥२५॥  
 हरहरति हर हार सरिम पाटी सौ निकरति ।  
 भब-भय भेक अनेक एक संगहि सब निगरति ॥

१ शाल्यव्याजी, अध्याय ५, नगरवात,

२ " " " "

अस्त्रित इत वर-वैम बेरि सौंकर पर धारे ।  
 मरभराइ इक संग कदत मनु कुन्त धियारे ॥१८॥  
 कहूँ कोउ गह्वर गुहा मोहिं चहरनि घुमि घूमति ।  
 प्रबल बग सौं धमकि घूसि दमई विसि घूमति ॥  
 कदति कोरि इक ओर ओर घुनि प्रतिधुनि पूरति ।  
 मानहु उइति सुरग गढ़ गिरि छत्रनि घूरति ॥२६॥

—बसन्त-सर्ग

गङ्गावतरण के इस अोजपूर्ण वातावरण के आसपास कवि ने प्रकृति का चर्चित चतुस्र तथा मनोरम रूप भी चित्रित किया है । बसन्त का वास्तविक वातावरण कोमल-बसों के द्वारा तथा अमर-गुजार के अमुरत्य अनुनासिक ध्वनियों की सहायता से कवि ने बड़ी सफ़लतापूर्वक चित्रित किया है :—

“हर वस्त्रिनि के कुच-पुच कुमुमि कहूँ मोहूँ ।  
 गुञ्जत मध मसिन्द-वृन्द तिन पर मन मोहूँ ॥  
 मनी सुहागिनि सजे अंग यहरंग दुकृतनि ।  
 गावति मंगल मोद भरी छजे सिर फूलनि ॥

—गङ्गावतरण इराज-सर्ग

\* \* \* \*

नाचत मनुज मोर मौर साजत सारंगी ।  
 करति कोकिजा गान सान शानति बहुरंगी ॥  
 स्पामा सीनी देति घटक घुटकी घुटकावत ।  
 घूम भूमि मुकि कल-कपोत वक्ता गुटकावत ॥१४॥

—गङ्गावतरण इराज-सर्ग

अन्तिम पंक्तियों में कविों को वाद-व्यभि शब्दावली के द्वारा कवि ने ध्वनिक रूप में व्यक्तित्व कर दी है । वातावरण की गम्भीरता का चित्रण भी कवि ने वास्तविक वातावरण के द्वारा बड़ी सफ़लता के साथ किया है । अरब के पूर्व-दिन पर चोटी चले जाने से जिस गम्भीर तथा अविद्वेषक वातावरण की उत्पत्ति बहुरंगी में होती है, व, व म आदि गम्भीर तथा महामाण-ध्वनियों के द्वारा उसका सफ़ल चित्रण किया गया है :—

बपप्याव गान याइ घवल ध्यानन लटकप ।  
 त्रिकुटी ऊँचे सधक वक सुकृती ममराप ॥



मरि गमीर स्वर भाय भूप सौ कियो निवेदन ।  
गयो पर्व दिन अस्व मयो मारी हित-छेदन ॥३१॥

—प्रथम-सर्ग

श्रीकृष्ण चित्रों के लिए रत्नाकर जी ने परम्परागत भाव-प्यजना का आचार भी ग्रहण किया है। जिस प्रकार चारण काव्य के कवि द्वित्व तथा संयुक्तियों की सदाकता से पर्य-भाषों की अभिव्यजना किया करते थे अपने मुद्रकों में रत्नाकर जी ने भी उक्त शैली का प्रयोग किया है। भीष्म के ऊपर सुदर्शन चक्र का प्रहार करने के लिए कृष्ण उछल होते हैं और चक्र पर एक शक्ति छिड़ जाते हैं। उसके प्रभाव का चित्र निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत हुआ है—

एक छुट्टी के एक ओर पप फेरत ही,  
सक मये अक छर धमि यहरत हैं।  
कई रतनाकर फलाकर अलड मडि,  
पंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हैं।  
कोल कच्छ कुचर कदकि इति कावे लस,  
फननि फनीस के पुदकिग फहरत हैं।  
मुद्रित वृषीप दग रुद्र मुजअरें मीडि,  
धद्रित समुद्र अद्रि भद्र महरत हैं ॥

—बीराहक-भीष्म-मरिशा संद १

शब्दावली के द्वारा इस प्रकार भाव-प्यजना करना कवि के असीम भाषा-पिप्पल के प्रकट करता है। रत्नाकर जी के पूर्व बहुत कम कवि इस प्रकार की भाव-प्यजना कर सके थे ऐसा कहने में कोई अजीब नहीं है। बालक में वाली उनके अधिष्ठा में ही और वे उसे हृदयानुसार तुमाने किराने में समर्थ थे। यह अधिष्ठा पर्याप्त-साधना के द्वारा ही प्राप्त होता है और इस किराने में रत्नाकर जी की साधना-रूप थी, इसमें सन्देह नहीं।

## भाषा और छन्द

कवि की भाषा, उसके भाषों की अभिव्यक्ति का साधन है। भाषों की अभिव्यक्ति की आर्यावा विवर्ति गहरी होती है। ह्ये केवल कवि ही समझ सकता है और कवि निरन्तर इस बात का प्रयास करता है कि वह अपनी अनुभूतियों का यथावत बखान कर सके। इन बखानों का प्रमाणाती तथा ममस्पर्शी बखान के लिए उन सद्यन्त भाषा की आवश्यकता होती है, जिसके बिना उसका कवि-कर्म असंभव रह जाता है। अतएव यह समझा जा सकता है कि भाषा का कवि के लिए कितना अधिक महत्व है। रत्नाकर जी का काव्य बखान-प्रधान है और कला प्रदान के लिए भाषा-सौष्ठव से बह-कर दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता। रत्नाकर जी की भाषा में वह सौष्ठव विद्यमान है जो पाठक के मन को मुग्ध करता है, बुद्धि को उत्थरता देता है और हृदय को लुं खेता है।

रत्नाकर जी की भाषा पर दो दृष्टियों में विचार किया जा सकता है। एक तो हमकी अभिव्यक्ति शक्ति और दूसरे इसका आश्रय। अभिव्यक्ति शक्ति पर विचार करने के लिए भाषा में लक्षणात्मकता आत्मनिर्दिष्टता तथा शब्द-चयन की ओर दृष्टि डालनी जा सकती है। लक्षणात्मक भाषा जिस रचनात्मकता को उत्पन्न उपस्थित होती है वह बचन-बन्धना के कारण हृदय पर हीम हो प्रभाव डालती है। लक्षणा में सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त अनुभूतियों का माध्यम प्रदत्त किया जाता है। मञ्जुर बचन सीमा बाध, कठोरवाणी इत्यादि वाक्यांशों में मञ्जुरता सीमागत अथवा कठोरता का अनुभव हमें स्पर्श से होता है। किन्तु बचन इत्यादि के ममस्पर्शी प्रभाव को व्यक्त करने के लिए और उस सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए इस स्थूल उपमान को प्रदत्त किया गया है। रत्नाकर जी ने इस प्रकार की लक्षणा का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है —

“क्षौरक के शप ताप पाण्डप के आठ चू,  
पानी मीहि पारय-सपूत की कुपानी के।”

दर्प और ताप का पार्वण्य अभिमन्यु की कृपा के पानी में बहना बड़ा ही मनोरम साहित्यिक प्रयोग है। कवि का तात्पर्य यह है कि अभिमन्यु की तलवार की चार सब शत्रुओं का मन मज्ज कर रही है। इस प्रकार के अनगिनत प्रयोग रत्नाकर जी ने किए हैं। उदाहरणतः में अमरकार-सिद्धि बहुत कुछ साहित्यिकता के द्वारा ही हुई है। कवि ने केवल शायी ही में नहीं बरन् संकेतों में भी साहित्यिकता का प्रयोग किया है। गापिकाएँ कहती हैं :—

औसर मिलै और सर-साज कहु पूछहि ता,  
कहियो कहु न दसा देखी सो विस्वाश्यो ।  
आइ कै कएहि नैन नर अपगाहि कहु,  
कहिय कौ पाहि हियकी लै रहि आइयो ॥  
अथवा

नाम को पताइ औ जताइ गाम ऊभौ बस,  
स्याम सौ हमारी राम-राम कहि दीजिया ॥

इत्यादि उदाहरणों में संकेत तथा इने-गिने शब्दों के द्वारा शोषिकाओं के मनोभावों का सर्वांग विभक्त कवि ने कर दिखाया है।

किसी एक शब्द मात्र में सम्पूर्ण भावना को भर देना रत्नाकर जी की कला की विशेषता है :—

“सहिई सिहारे कहै साँसलि सब पै बस,  
एती कहि वहु कै कहेया मिखि जायगो ॥२२॥

१, मोर पंजिया कौ मोर-मारौ पारु पाइन कौ,  
ऊधौ औसियाँ कहै न मोर पँलियाँ कहै ॥

३, ऊभौ ब्रह्म ज्ञान को बखान करते न नेंकु,  
दखि लस काइ जौ हमारी औसियानि लें ॥

उपर्युक्त उदाहरण में ‘कहेया’ शब्द के द्वारा भरने प्रेम की आत्मीयता का निर्देश शोषिकाओं ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। ‘मोर पँलिया’ शब्द नेत्रों की चेतनाशक्ति की चार निशान करता है और ‘हमारी औसियान’ का तात्पर्य अनुराग से पूर्य नेत्रों से है। इस प्रकार की साहित्यिकता रत्नाकर जी के काल के मार्मिक अमरकारपूर्ण तथा आकर्षक बना देती है। कवियों के अन्तर्गत ही मुदाबिरों का प्रयोग भी किया जा सकता है। मूर के समान रत्नाकर जी का मुदाबिरों का प्रयोग बड़ा ही मार्मिक तथा प्रभावशाली बन पड़ा है।

राकत सोमुरी री बामुरी में यह बामुरी मोहन के मुख जागी में बामुरी का हुँद लगी होना बहुत प्रसिद्ध मुदाबिरा है। महारानी दुगाफी की बीरता

के न मूल शायदश्यों की विद्वत्ता का वर्णन बड़े ही साहित्यिक ढंग से कवि ने किया है :—

‘पानी सब मुख को उतरि हिय पानी मर्यो,  
पानी गयो रोज़ कौ विस्वाइ टग पानी है ॥’

इस प्रकार साहित्यिकता की दृष्टि से रत्नाकर जी की भाषा बहुत कुछ प्रांथ है। इनकी भाषा पर सूर बिहारी और पद्माकर जैसे भाषाविद्वारी कवियों की दृष्टि स्वाद-स्वान पर बिलसाई पड़ती है। असह्यार ता रत्नाकर जी के काव्य की प्रमुख मण्डलि है। उनकी प्रथम दृष्टि आसङ्गरिकता पर ही पड़ती है। असह्यार का बिसृत विवरण कथा के अन्तर्गत दिया जा चुका है। अतः इस विषय पर पुनः कुछ कहना पुनरुक्ति ही होगी।

इनके अतिरिक्त रत्नाकर जी के काव्य में कुछ स्त्रीकृतियों, लोकोक्तियों वृत्तप्रदियों के भी दर्शन होते हैं। इन्होंने अपने काव्य को परंपरिक छाप हुए अशक्तों का अज्ञापनकर बनाने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि उसमें अशक्त-स्वभावता-छाप है, जिनके कारण वे भावों का उत्कर्ष के साथ सफल विवरण करने में समर्थ हुए हैं।

भाषा का सौन्दर्य तथा उसकी प्रभावशालिता बहुत कुछ शब्द-चयन पर आश्रित रहती है। जिस कवि का शब्द-भंडार जितना ही अधिक व्यापक है वह उतना ही अधिक सफल कथा का सक्षता है। कवि की सफलता इसी में है कि वह छोटे से छोटे भाव को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र शब्दों का उपयोग करे। वे शब्द लक्ष्म, उन्नत, श्रेष्ठ अथवा विदेशी वर्ग से प्रदत्त किये जाते हैं और इनका प्रयोग रसों के अनुकूल पठन अथवा कोमल शैली का निर्माण करने के लिए होता है।

रत्नाकर जी प्रब्रजभाषा के कवि थे। इनके सम्पूर्ण सूर स खेकर पद्माकर तक की भाषा का क्लिष्ट विद्युत्सित रूप विद्यमान था। सूर का प्रांतीय सौन्दर्य धनानन्द द्वारा उल्लासी शब्दों का प्रयोग रसकानि का माधुर्य और पद्माकर की क्लृप्तकथा सभी आदर्श रत्नाकर जी के सम्पूर्ण थे और इन्होंने सबका लाभ भी उठाया है। इनके काव्य में भाषा की प्रांतीयता तथा साहित्यिक दोनों विद्यमान हैं। रत्नाकर जी अधिकतर अक्षय मान्त में ही रहे। कठिनी में भी पूर्ण भाषा ही बोली जाती है। प्रब्रजभाषा का प्रयोग इन्होंने केवल काव्यगत परम्परा से चाया था, अतएव इनकी भाषा में अक्षय अथवा प्रांथी शब्दों के प्रयोग पचास मात्रा में मिलते हैं। एक बसती हुई भाषा का

आदर्श रूप अवस्थित करने के अन्त में इन्होंने इन सब प्रचलित शब्दों को अपना लिया है जो विदेशी भाषाओं से आ गए हैं अथवा जो केवल प्राचीन भाषाओं में ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार इन्होंने अपनी भाषा को एक साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है। इनके अत्यन्त अधिक अथवा अत्यन्त कम शब्दों में उत्तम शब्दावली का प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में दिखाता है, किन्तु सफ़लता से उत्तम और उत्तम शब्दों के मिश्रण से इन्होंने शुद्धता और सरलता का बड़ा सुन्दर मिश्रण किया है। उदाहरणार्थ:—

“समग्री शोक समुद्र भा विप्लुत मकरास्त्रा,  
वहवागिनि-सी लगन लगी सम्यागिन ज्वाला।”

अथवा

जो अज्ञान निकाय भाहि सुपमा सुपर्या,  
दू दस ताके वरसु बीज के सुम सुखदाई ॥

उक्त उदाहरणों में कुछ शब्द एकत्र अत्यन्त ही और कुछ अलग-अलग विहित करने उत्तम बना दिए गए हैं।

कुछ लोक प्रचलित शब्दावली का प्रयोग भी अत्यन्त ही में मिलता है।

१ गोपिन को अत्यन्त न भावत भवत है।

२ कई रतनाकर करत हँस-हँस बूबा।

३ देई कसु कामहु न संगर बगार ली।

४ तम मन कीर्त्त विराहागि के तदैका है।

५. सांघनि के सांघनि के अरत अमेता है। इत्यादि

यह शब्द है कि इन शब्दों के प्रयोग से अत्यन्त में स्वाभाविकता और सीधे की वृद्धि होती है। अथवा अत्यन्त और अत्यन्त भाषा के प्रमुख गुण हैं। अथवा अत्यन्त का अर्थ तब होता है जब अत्यन्त में समासयुक्त पदों की बहुलता होती है। समासयुक्त पदावली का प्रयोग अत्यन्त अत्यन्त अथवा अत्यन्त-सीधे की अत्यन्त न युक्त अत्यन्त में अत्यन्त रूप में होता है। अत्यन्त में अत्यन्त ही ने अत्यन्त का बड़ा सुन्दर संगठन किया है। ‘हाथी-घाट के विमललिखित रूप में पद्य शब्दावली तथा दिग्दर्शकों की सहायता से कवि न अथवा अत्यन्त परिपाक किया है—

दान शपरी की परतंत्रता पुष्कर भ्योही,  
तंत्र विन भाइ मनतंत्र चिजुरीनि प।  
कई रतनाकर त्या अत्यन्त की ह्या की अरनि,  
आनि लसी आहुति-विहीन आहुतिनि पै ॥

अंग पन्थो बहरि लहरि हग रंग पन्थो,

संग परयो बसन सुरंग वैसुपीनि वै ।

पांचजन्य धूमन धूमसि होठ बक्र लाग्यो,

बक्र लाग्यो धूमन ठमगि अंगुरीनि वै ॥

किन्तु रत्नाकर की को बिरादतः श्रीकृष्ण उत्पन्न करने के लिए इस समस्त पुण्य पदावली की ही आश्रयकता नहीं पका करती, यमक के द्वारा भी यह श्लोक का अर्थ संगठन करते हैं —

द्रुपद महोपति की पंचपति हैं की द्वाय,

पंच पति हैं के हैं पति की पति आश्री ।

गंगाकलश में मगवान् शंकर की शोभा का वर्णन करते हुए कवि ने श्रीकृष्ण की सिद्धि की है —

हेम-वरन तिर बटा चंद-श्रवि-छटा भाज पर,

कलित कृपा की कटा-मटा सोचत विसाल पर ।

फनि-पति-हार-विहार-भूमि पच्छस्वस्त रामै,

अग-अपलंब प्रलंब मुञ्जनि फरकति छबि छावै ॥३२॥

( पद्य सर्ग )

रत्नाकर का अर्थ प्रसादगुण से परिपूर्ण है। यद्यपि स्वानु-स्वानु पर पौराणिक संदर्भ हृत्पति से यमक अर्थ परिपूर्ण है, जो कि उनके गम्भीर अर्थवत्त का परिचायक है, परन्तु ऐसे संदर्भों का उपयोग प्रायः नहीं किया गया है जिनके अर्थ अर्थ में कुछ हटा या भाव । उदाहरण के कुछ ऐसे हैं कि जो किसी व्यक्त्याय किसी से संबंध रखने के अर्थ कुछ एकदेशिय हो गए हैं जिसके अर्थ उनमें कुछ कुछ हटा या भाव है, अन्वया उनही शब्दावली सरल तथा साधारण होते हुए भी स्पष्ट है । उदाहरण—

श्रीं लौं टिटेहरी के ओई जू बिबेक पति,

फेरि लक्ष्मि की ताक सनक न राह है ।

यह वह सिन्धु नहीं सोखि आ अगस्त खियौ,

ऊषौ यह गोपिनि के प्रेम के प्रहास है ॥६॥

उक्त पंक्तियों में महाभारत की उस विस्मयक कथा का उल्लेख है जिसमें सागर के द्वारा एक पर्वत के अर्धे बहा दिए गए थे, और जिसकी सहायता करने के लिए अगस्त अर्थात् से सम्पूर्ण सागर का पाव कर लिया था । यह कथा हृत्पति बिरादत है कि संदर्भ के समझे के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता ।



प्रार्थनात्मकता उत्पन्न करने का प्रयत्न भी किया। कीं सी में, में इत्यादिवि भक्ति-  
 चिन्ह मात्रा के स्वरूप की प्रार्थनात्मकता की ओर मुझने बाधे हैं। किन्तु रत्नाकर  
 जी के कुछ प्रयोग पूर्व रूप से उचित नहीं कई जा सकते। 'ए' के स्थान पर 'ये'  
 का प्रयोग, 'ओ' के स्थान पर 'औ' का प्रयोग मिलता तो है किन्तु इसके  
 आधार पर भाषा-संबंधी कोई विरिक्त सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता। 'सोई'  
 जब आत् हूँ गिरिबो करै' में 'गिरिबी' का दूसरा रूप 'गिरिबो' भी प्रयुक्त होता  
 है और प्रचलित भी है। इसी प्रकार 'सो' के स्थान पर 'सौ' और 'ए' के स्थान  
 पर 'ऐ' का भी प्रयोग किया जा सकता है। अतः इस प्रकार के सिद्धांत न  
 तो बहुत वैज्ञानिक प्रभावित हुए और न लोकप्रिय हो सके। इसी प्रकार  
 कई रत्नाकर न श्रुति हैं 'हमारे दम' में 'हमारे' का प्रयोग करके कारक में  
 हुआ है और इसका ऐतिहासिक महत्व है। संस्कृत की विभक्ति 'ए' का बहु  
 प्रयोग है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ भी ऐसे प्रयोग प्रचार न पा सके क्योंकि  
 साहित्यिक प्रयोगों का स्वरूप स्थिर हो चुका था और उसमें काव्य-रचना  
 रत्नाकर जी के उपरान्त नहीं के बराबर हुई है। अतः प्रचार के लिए आवश्यक  
 भी नहीं था। रत्नाकर जी व्याकरण के शास्त्रों के और उन्होंने यथासाध्य भाषा  
 का संस्कार करने का प्रयत्न किया। उनका प्रयत्न प्रशंसनीय ही कहा जायगा।

संक्षेप में रत्नाकर जी की भाषा सब प्रकार से साहित्य-रचना के अनुकूल  
 है। उसमें सूक्ष्म-अभिव्यंजना शक्ति कलात्मकता संगठन तथा प्रभाव एक  
 साथ विद्यमान हैं। समृद्ध युग की प्रवृत्तियों का एक साथ समन्वय उनकी  
 भाषा में दृश्यमान होता है।

### उद्

बंद-काम्य की विशेष प्रवृत्ति का सूचक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी  
 के अनुसार 'भाषा दर के मनोभाव की सूचना देती है, क्योंकि जब-जब काम्य  
 अति नवीन अतिमी के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ  
 आती हैं। तभी आधार परंपरा का प्रचलन होता है। नये काम्य रूपों की  
 उद्गातन होती है और नये बंदों में अवधिगत सुलभ हो जाता है ॥' रत्नाकर  
 जी न काव्य के लिए दो प्रमुख चर्चों को स्वीकार किया है शोक तथा प्रवर्षण।  
 इनके अतिरिक्त दुःख तथा सबैबा तथा कुछ दोहों का प्रयोग भी उन्होंने किया  
 किन्तु जी व्याकरण तथा सफलता इन्हें शोक तथा प्रवर्षण में मिली वह  
 काम्य बंदों में नहीं। शोक बंद प्रयत्न न काम्यों में सफलता के साथ प्रयुक्त



हुआ है। जोरगुण का प्रदर्शन इस छंद के द्वारा बड़ी सफलता के साथ किया जा सकता है। इसी के साथ-साथ इस छंद का प्रवाह इसको कथकनाक काव्य के लिए उपयुक्त प्रमाणित करता है। 'द्विबोला', 'हरिबन्ध', 'कल-कलती' तथा गद्गावतरण काव्य रत्नाकर भी ने इस छंद में रचे हैं। इन कव्यों का प्रवाह, रसानुभवा तथा धमाकटाहिला बहुत कुछ स्पष्ट ही है। अतः हीर तथा कदम्ब रसों की बड़ी सफल अभिव्यञ्जना कवि ने इसी एक छंद के द्वारा कर दी है। कदम्ब का परिपाक हरिबन्ध काव्य में बड़ी सफलता के साथ हुआ है। रौप्य-विद्या इसका बड़ा ही सजीव उदाहरण है—

हाय हमारौ कल लियो इमि छुटि विधाता ।  
 अय धर्यो मुख जोहि मोहि ब्रिधि यह माता ॥  
 पति त्यागौ है रहे प्रान तब छोड़ सहादे ।  
 सो तुमहूँ अय हाय विपति मैं झौहि सिधारे ॥४४॥  
 अयहि सुनि अँ तो तुम रहे भली बिधि खेतव ।  
 औचकहौँ मुरमगइ पर मय मुख मुख मेकव ॥  
 हाय न वल्ल बहुरि शोधी कतर दीन्धौ ।  
 पूरु केत गुरु इत साय इमअँ डाम खीन्धौ ॥४५॥

—बीया सरा

अतः का बचान दिहाल-काव्य में रूप-चित्रण तथा रत्न-चित्रण दोनों ही बच्चों में सफलता के साथ हुआ है। रूप-चित्रण का उदाहरण 'द्विबोला' काव्य के आरम्भ में ही देया जा सकता है। सरा-धनु का बचा ही सूक्ष्म तथा प्रभावशाली बर्णन कवि ने प्रयुक्त किया है। उदाहरण रूप्य है :—

“बट्टे दिसि त वन घोरि घोरि नम मण्डल छाए,  
 धूमत, भूमत, सुकृति अँनि अस्मिमय नियराए ।  
 वामिनि वमन्दि विद्यासि, बुरसि पुनि वोरत, कहरें,  
 छुटि छपीली छटा-धार छिन छिन छिति कहरें ॥१३॥

रूप-चित्रण के एकक विषय बड़ी कलात्मक शक्ति में कवि ने चित्रित किया है। निम्नलिखित कव्यों में उनके रूप-चित्रण की कला में पहुँच होने का निम्नलिखित पूर्वा रूप के विद्यमान मिलता है।

पीत नील-पायाज परन मन-हरन मुहाए,  
 धमस अमस अमोरु गोस गाननि छवि छाए ।  
 तन्म-अरुन-थारिज विमाल लोचन अनियार,  
 रंग रूप जोवन अनूप कँ मन्-मत्तपारे ॥३७॥

माय भेद-भरपूर चारु पितृवनि आदि बंधन,  
 वरुनी सभन कर-कज्जल-जुव लसत हगवल ॥  
 सुहुटी कुटिल कमल सान सौ परसति धननि,  
 नेहु मटक सि मुनि मूकमाव के वरसति पाननि ॥३५॥

वखानामक शैली में कव्य कल्प करने के लिए रोला का प्रयोग कवि ने सफलतापूर्वक किया है। इसका उदाहरण रत्नाकर जी ने समालोचनापत्र में अपने अनुवाद द्वारा प्रस्तुत किया है। काव्यलोचक के भाद्यों का वर्णन करते हुए वही प्रवादपूर्ण शैली में इस काव्य में आलोचना-सिद्धान्त दिए गए हैं।

कव्य का प्रयोग रत्नाकर जी ने अधिक नहीं किया है। किन्तु यत्र-तत्र उनका प्रयोग इनकी रोला-प्रियता के ऊपर ही आश्रित है। रोला के प्रति इनका आग्रह उन्हें कव्यक शब्द के प्रयोग की धीर भी परित कर देता है। गंगावतरण के मत्प्रेक काव्यक का अन्तिम शब्द उल्लास है और इसके पूर्व के रोला से मिलकर वह एक उप्यव का निमाय करता है। मुद्रकों में भारत सम्बन्धी दो कव्यक रत्नाकर जी न लिखे हैं।

रत्नाकर जी का प्रमुख शब्द बनावरी है। इस शब्द के विषय में आचार्य रत्नाकरसाह दिवेदी जी का कथन है—“कवित्त, सर्वथा की प्रथा कर चली यह कदवा भी कठिन है। यह प्रथमाया के अपने शब्द हैं। सर्वथा का संभाव ता कदमिष् संस्कृत शब्दों में मिल भी जाता है, पर कवित्त कुछ अभावक ही आमतकता है।” पद्यनि चर के चर वर्णन करन वाले कुछ शब्द प्रथमाया के शिबसिंह-सरोज में मिलते हैं किन्तु वह शब्द चार के लिए हुए जान बघते हैं। आचार्य जी के अनुसार बनावरी और सर्वथा “सूक्तत पन्दीजन के शब्द हैं। सम्भवतः उसी परम्परा में इसका सूत्र भी मिले।”

काव्य में गौस्तामी तुलसीदास का समय से बनावरी शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलने लगता है। कवितावली में इस शब्द का बहुत ही निम्नता और मजा हुआ रूप प्रयोग होता है। ऐतिहासिक तो इस शब्द की प्रयुक्तता का युग है। रत्नाकर जी न भी इस शब्द को उसी परम्परा से प्राप्त किया है और इस पर इनका पूर्ण आश्चर्य है। प्रथमतया अपनी मुद्रक रचनाओं के लिए इन्हींके इसी शब्द का प्रयोग किया है। बङ्गकालक जैसे प्रथम्य-मुद्रक में भी इसी शब्द को अपनाया गया है।

विचार-प्रधान अथवा इतिवृत्तात्मक मुण्डलों की रचना के लिए यनाचरी षुंद बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। रत्नाकर जी के ग्रन्थों में इस षुंद की सफलता का यही कारण है कि वर्णनात्मक शैली पर लिखे गए काव्य इस षुंद में बहुत फलते हैं। शोक इस षुंद का विशेष गुण है और शीतल अथवा तर्क-प्रधानता को छोड़कर बचे गए शब्दों को छोड़कर यह षुंद बहुत सफल होता है। ग्रन्थों के विषय विशेषतया और रसात्मक हैं। वाग्विदग्धता का अर्थ ही इस षुंद में विशेष सफलता के साथ होता है। उद्भवगतक में इस षुंद की सफलता का यही कारण है। समस्यापूर्ति रीतिकाल की विरापता थी। रत्नाकर जी विरंतर समस्यापूर्तिपूर्ण किया करते थे। इस कला ने भी इन्होंने इस षुंद पर अभिचार प्रदान कर दिया। मन्नात-काहरी तथा मर्दरों पदावली में इस प्रकार की समस्यापूर्तिपूर्ण के उदाहरण विद्यमान हैं। रत्नाकर जी का इस षुंद पर असीम अभिचार है। कविवर देव बभानन्द भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि कैबिबों से से अधिक प्रभावित रहे हैं और इन सब की शैली इनके यनाचरी षुंद में विद्यमान है। वास्तव में इस षुंद में इनकी काव्य साधना साकर परिगोचर होती है।

सबैसा और बोदा से षुन्द और हैं जिनका धोदा-बहुत उपयोग रत्नाकर जी ने किया है किन्तु इन ग्रन्थों में रत्नाकर जी की कृति ऐसी नहीं रमी कैसी यनाचरी में और इस्तिकर रत्नाकर जी का प्रमुख षुन्द यनाचरी ही कदा जाना चाहिये।

विचार-धारा



## विचार-धारा

रत्नाकर जी के काव्य में कृष्ण को हम आत्मजन रूप में पाते हैं। इनके काव्य का क्षेत्र स्पष्ट ही सांकेतिक तथा आसौकेतिक दोनों पक्षों में मिश्रित है। सांकेतिक पक्ष के पीछे श्रद्धारपुगीय साहित्य की परम्परा है और आध्यात्मिक पक्ष के पीछे श्रीमन्नारायण से लखी जाती हुई पारमार्थिक परम्परा। इस पक्ष का प्रस्तुतन सबसे अधिक उद्बलगतक में हुआ है यद्यपि अपने हिंदोलना-काव्य में भी रत्नाकर जी ने कृष्ण के आसौकेतिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण किया था। हिंदोलना में कवि ने बल्लभार्थ सिद्धान्तों के अनुसार टुन्डरीतवादी दृष्टिकोण से सम्पूर्ण प्रकाशक का चित्रण किया है। उनके कृष्ण सोलहों कथाओं से युक्त हैं, परमेश के साकार रूप हैं। राधा उनकी आनन्दमयी शक्ति है। इन्द्राक्षम गोसोक है और गोप ग्वास्त इत्यादि ने जीवात्माएँ हैं जो अपनी आध्यात्मिक बुद्धि के कारण भगवान् की आनन्दमयी सौठा में भाग लेने की अधिकारिणी हो सकी हैं। श्रद्धारमूर्ति भगवान् कृष्ण की आनन्दमयी भगवत कृष्ण की अधिकार कर्तृ भगवान् कृष्ण से ही प्राप्त होता है। रत्नाकर जी ने इन श्रद्धारमूर्ति कृष्ण का चित्रण करते हुए उनके अपने जीवा-विधासों का अग्रन किया है। इस कारण चित्रण का आधार सांकेतिकता का सत्यता भी नहीं छोड़ सक्त। परन्तु हिंदोलना में कवि की आध्यात्मिक दृष्टि बहुत कुछ स्पष्ट होकर हमारे सम्मुख आती है। हिंदोलना के मद्दहापरत में तथा कृष्णाष्टक में इस आध्यात्मिकता का आभास बड़ी स्पष्टता के साथ मिलता है :—

आधी एक वृक्ष को निरञ्जि विदुषेस सेस,  
 सारव, महेस है पपीक्षा तरसत हैं।  
 कई 'रतनाकर' कृषि रूषि ही मैं जाधी,  
 मुनि-मन-मोर मंजु मोद सरसत हैं।  
 महसही होति तर आनंद-सर्वगलता,  
 जासों दुख-दुसह जयासे म्हरसत हैं।

अमिनी-सुशमिनी ममेत घनस्याम सोऽह,  
 मुरस-समूह प्रज-वीथ परसत है ॥  
 निम-भातक जाकी उदर, होत सपूरन-अय ।  
 कृपाधारि परसत विमल, जै जै श्रीधनस्याम ॥

हिंदीका में यदि वैज्ञानिक भावबुद्धि है तो उद्वेग-जतक में व्यावहारिक तर्क का उपयोग किया गया है। 'हिंदीका' में कृष्ण की परमशक्ति में किसी प्रकार की द्विविधा उत्पन्न नहीं होती। उद्वेग-जतक में निर्गुण और सगुण के विवेक का लेकर निर्गुण और सगुण में भेदता का निश्चय करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। निर्गुण मार्ग ज्ञान मार्ग है, इसके मातृ करने के लिए अनेक प्रकार की कठोर साधनाओं की आवश्यकता पड़ती है। कुबद्धि की ओर जाग्रत करके उसे अमर्याद विगहा और सुगुण के मध्य-स्थित विभिन्न कक्षाओं का बीच से उद्वेग हुआ महत्स्व-उत्तरक कर्म-अज्ञान तक पहुँचता है। इसके लिए उसे सभी लौकिक मार्गों का परित्याग करके पूर्ण निष्काम भाव से ब्रह्म का ध्यान करना पड़ता है। त्रिपुरी पर यदि ब्रह्मकर निरंतर वृत्तियों को पृथक् किए हुए वह बाह्यरूप होकर हृदय में निर्गुण की स्थापना जगाने का प्रयत्न करता है। इस साधना के पूर्ण हो जाने पर उसे जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है और वह 'अहम् ब्रह्मस्मि' 'सौम्य' इत्यादि सिद्धियों में विश्वास करने लगता है। उसके लिए पृथग्भाव ब्रह्म ही सत्य तत्त्व जगत् सिद्ध हो जाता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त साधक बागी के हृदय में विषेग भावि लौकिक अनुभूतियाँ नहीं रह जाती। वह हृदय और शोक से निवृत्त हो जाता है। वह उद्वेग के शब्दों में विचार करने लगता है कि 'आपु ही ही आत्मज्ञान मिहाय श्री विहीन कहा मोह यह मिथा सुख-सुख सब सबी ह ॥११॥ अतएव बागी अपने अस्मित्व की ब्रह्म के अस्तित्व में लीन कर देने में ही अपने जीवन को सार्थक समझता है। उसकी इच्छा-निष्ठा का उद्वेग पटी है। रत्नाकर जी के उद्वेग ऐसे ही साधकों के प्रतिविधि हैं। वे गौपिकर्यों की आत्मा को परमात्मा में ऐसा लीन करने का आदेश देते हैं जिससे निरंतर अज्ञेय-विकार विरहित होता रहे। अतएव अविचल मिहाय के लिए 'जोग जगति की सहायता ने ज्ञान-यग को सज्जित करना आदिपु, स्वर्गिक ध्यान में —

माया के मर्षण ही सौ भयमल श्रेय सने,  
 बाँध फलहरि श्यां अनक एक साई है ।  
 दग्गो धम पत्तल अपारि ज्ञान-शोरिन सौ,  
 बरन्द सबही में फरद ही में सप कोई ह ॥१२॥

किंतु मक्ति-मार्ग की दार्शनिक दृष्टि इस नीरस तथा मध्य-साध्य-पद्धति के विरुद्ध विपरीत है। वहाँ तो सारी विधिपूर्वक निष्पिंड हैं। श्रीमन्नानन्द के अनुसार ब्रह्मनाथार्य द्वारा स्थापित मार्ग में केवल प्रेम-सहजता मक्ति ही प्रभाव रही उसमें केवल मगध-रूपों से ही मक्ति की प्राप्ति है। कर्मकाण्ड का निराकरण है और केवल आत्मार्थ के आधार पर ही उस परम आनन्दमय की प्राप्ति होती है। पद्यपि ब्रह्मनाथार्य ने मध्य के दो रूप स्वीकार किए थे। एक नाम कम विदित-सागुल और दूसरा वृक्षंतका विधिकार निर्गुण, किंतु उन्होंने हमारे रूप की ही वास्तविक मध्य का पारमार्थिक रूप स्वीकार किया था। प्रथम को उन्होंने केवल व्यावहारिक मात्र माना था। इन्हीं दोनों मध्यों में वेदों का प्रतिपादित करने का प्रयत्न ब्रह्म-गोपी संवाय लैली में देखा जा सकता है। इस मध्य मक्ति की कथासत्ता का परममध्य उस हीका-गोपी के आनन्दमय स्वयं की प्राप्त करता है जो निरन्तर अपने अंतरूप बीजों में अपने आपको वितरित करता रहता है। सृष्टि की रचना प्रथम बीजों के रूप में अपना आधिनाथ और तिरोभाव करता हुआ मध्य विरंतर अपने आनन्दस्वरूप को परिवर्तन करता है। वह स्वयं आनन्दरूप है और अपनी सृष्टि में भी आश्रित रूप से आनन्द का वितरण करता रहता है। आश्रित रूप में आनन्द को प्राप्त करनेवाले बीज पूर्व आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इस प्रकार अपने आपको उसके विरुद्ध पूर्ववाये की क्रिया में बीज निरन्तर लगा रहता है। अतएव इसे भी आश्रित रूप से आनन्द-रूप कहना अनुचित नहीं है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के बीच ब्रह्म अर्थात्तमत्व का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्ममस्वामी ने अपने मत को उद्घाटितनाम कहा। मक्ति के क्षेत्र में वही उद्घाटितनाम मुक्तिमार्ग कहलाता है।

ब्रह्ममस्वामी के समकक्षीय ही बगल में वैतण्य महाप्रभु थे जो अपने सम्यग्त्व की स्थापना की थी। उनके सम्यग्त्व में रावणरूप के बुगलरूप की उपसमाप्ति होती है। इसके दो प्रमुख शिष्य जीवगोस्वामी तथा गोपाळमह मुन्यरूप से प्रचार-कार्य करते थे। जीवगोपाळमह के पुत्रात्म में श्रीराधारमल जी का मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर बुध्वात्म में अब तक विद्यमान है तथा वैदिकवादी है। १-१२ पार्श्वों के द्वारा देखा है कि वैतण्य महाप्रभु की मक्ति की हीका होनेवाले श्री ईश्वरपुरी गोस्वामी थे, जो माधवेन्द्रपुरी गोस्वामी के शिष्य थे। माधवेन्द्रपुरी का नाम ब्रह्ममस्वामी की पार्श्वों में आता है। माधवेन्द्रपुरी की मक्ति-पद्धति की शिक्षा गोस्वामी विद्वत्नाथ को भी मिली। इस प्रकार वैतण्य और विद्वत् के मक्ति-मार्ग में बहुत कुछ साम्य होना स्वाभाविक



ही है। ब्रह्ममाचार्य और चैतन्य की मंड भी हुई थी और दोनों एक दूसरे के शक्ति से भी प्रभावित हुए थे। ब्रह्ममाचार्य ने बंगाली वैष्णवों को श्रीलावली मठ सेवा में भी रखा था। इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों की उपासना-प्रवृत्ति बहुत कुछ एक दूसरे से प्रभावित की और एकाग्र की राधारमय के सम्प्रदाय में ईशित हुए। इस सम्प्रदाय के भक्ति-सम्बन्धी ग्रंथ, रस और भक्ति के सिद्धांत के सम्बन्ध पर लिखे गए हैं और नायिका भेद रूपार्थ के सिद्धांतों को वेद-ग्रंथ की व्यापक तथा गम्भीर व्याख्या के द्वारा भक्ति को चरिताय किया गया है। मधुर भाव पर चैतन्य सम्प्रदाय में विशेष बल दिया गया है। ब्रह्मम के सम्प्रदाय में वास्तव्य पर विशेष जोर दिया गया है। चैतन्य के सम्प्रदाय में परमेश्वर एक है किन्तु उपासना भेद से अलग-अलग प्रकार से अनुभूत होता है। परमेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण हैं। उनका अनुदास्य व भवतीका रूप पूर्णतम है।

चैतन्य के इस प्रचित्य भेदाभेदादी सम्प्रदाय में जीव उसकी सत् विलीन, और भावन् स्वरूपिणी अंतरगा शक्ति से प्रकट नहीं होता। वह भगवान् की तत्त्व शक्ति से उसी प्रकार प्रकट हुआ है जिस प्रकार सूर्य से चिह्न निकली हैं। जीव भगवान् की विलीन शक्ति से प्रकट होने के अर्थ स्वयं भी विलीन है। ब्रह्मम-सम्प्रदाय में जीव भगवान् की विलीन-शक्ति से उत्पन्न माना गया है। इस सम्प्रदाय में स्वयं, नामहीना अनुदास्यवाम कृष्णमूर्ति की पूजा-सेवा के साथ-साथ स्वीकार किए गए हैं और सभी वर्गों के लिये यह सम्प्रदाय खुला रहा है।<sup>१</sup>

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से बध्नि एकाग्र की गौरीय मान्यसम्प्रदाय के अनुपादी हैं तथापि उनके ब्रह्मम तथा चैतन्य के सिद्धांतों का सम्बन्धित रूप परिगोचर होता है।

धार्मिक दृष्टि से एकाग्र जी एकाग्र के उपासक वैष्णव मठ थे। उनके ग्रन्थों में नैष्ठा-भक्ति की उपासना-प्रवृत्ति का विलीन रूप देखने की विलता है। मधुर-भक्ति के आचार पर कृष्ण की हृदय भावना उनके प्रति व्याप्ति-पदा का भाव स्थापित करना ही हृदय मन्त्रों की उपासना-प्रवृत्ति है। इत्येव

१ ब्रह्ममाचार्य और ब्रह्मम सम्प्रदाय, भाग १, वास्टर रीजिस्ट्रार गुप्त, पृष्ठ ३४-३९ के आचार पर।

से किसी प्रकार का विभेद-भाव मल्ल नहीं रहता। अपने इष्ट का उद्घाटन वह अपने इष्ट देव के सम्मुख मुक्त रूप से कर देता है। अपने इष्टदेव की सेवा वह स्वयं अपने हाथ से करता है। सेवकों के द्वारा नहीं करवाता और न ऐसे लोगों के सम्मुख अपने इष्ट का उद्घाटन करता है जो भगवत्-भक्त नहीं। अपने इष्ट देव का ध्यान वह परम सुन्दर रूप में करता है। उसके विविध श्लाघन, वाद्यहरण आदि करवा भी वह अपना कर्तव्य समझता है। कोई भी बस्तु बिना इष्टदेव को अर्पित किए वह ग्रहण नहीं करता। प्रत्येक बस्तु भगवत्-पूज्य करना वह अपना कर्तव्य समझता है। भगवत्-भक्ति के लिए स्वाध्याय, कर्मकाण्ड, ह्यादि के ऊपर विशेष बल नहीं दिया जाता केवल अहिंसा, सत्य, सहनशीलता श्रेय-परिहार इत्यादि सिद्धान्त इनके जीवन में प्रधान रहते हैं। अक्षय्य ह्यादि का कोई स्थान इन भक्तों के जीवन में नहीं रहा और न स्वाध्याय पर ही बल दिया गया। ककता इस सम्प्रदाय के भक्त विशेष सिद्धात् नहीं हुए। रत्नाकर जी में इन सिद्धांतों के अनुकूल कृष्ण के स्वरूप को देखने की प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु उन्होंने एक ओर ब्रह्म कृष्ण का यह ध्यानमय स्वरूप अंकित किया है तो दूसरी ओर राम, शिव, योग इत्यादि देवी, देवताओं का भी बहुत भक्ति-भावना पूर्ण प्रभाववाली चित्रण किया है। उनके धार्मिक चिन्ताओं में पंचरात्र का आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता। अथवा और कहीं में निरंतर विश्वास करने के कारण राम, शिव और योग की भक्ति के समान रूप से उन्हें प्रभावित किया था। कृष्ण-भक्त तो न बरगुरा से थे ही। उनकी कृष्णोपासना में दार्शनिक-सिद्धान्तों का समावेश उद्घाटक में बहुत कुछ स्पष्ट होकर आता है। वही उनका पैरू तथा परम्परागत धर्म था। इसका उन्होंने आग्रहपूर्वक परखन किया है, किन्तु तुलसी के समान उन्होंने अन्य देवताओं के प्रति भी अपनी गहरी भावना प्रकट की है। अतः इनका धार्मिक दृष्टिकोण बहुत कुछ अंतर लगता है। वास्तव में हिन्दू-समाज में सब धर्मों के प्रभाव के कारण तथा भगवत्-धर्म के विशेष प्रभाव के कारण का पंचदेवी-उपासना प्रवृत्ति हो गई थी रत्नाकर जी उससे पूर्वतन प्रभावित थे और इसी कारण इनके काल में सभी देवताओं के प्रति समान भक्ति-भाव प्रकट होता है।

### साहित्यिक विचार-धारा

रत्नाकर जी की साहित्यिक विचार-धारा बहुत कुछ परम्परागत है। विभिन्न प्रकार भक्ति भावना श्लोक-श्रुतियों की आदर्श अतिशय-कर्म

पूर्ववर्ती साहित्यकारों का अनुगमन करना मात्र रहा है उसी प्रकार रबाकर जी भी काव्य तथा साहित्य की परम्परा का पालन मात्र करना अपने अन्तःकरण में समझते हैं। इनका काव्य का उद्देश्य यदि किसी सीमा तक भाविक लाभ के लिए कदा जा सकता है तो वह अधिक से अधिक ब्यंग-मूर्ति का विवेक ही ही सकता है, अन्यथा इनकी रचना स्वान्तः-मुलाय कही जा सकती है। इस स्वान्तः-मुलाय काव्य-रचना के मूक में मूर्ति और कला दोनों प्रकृतिवत् काम करती हुई दिखाई पड़ती हैं। दोनों ही कृतियों को समुच्च करने के लिए इन्होंने काव्य-रचना की है।

आर्यों मनुष्य-जीवन का अनिर्धार्य अन्वय है। बिना आर्यों के मनुष्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। यह प्रथम तूतरी है कि उस आर्यों में उपबोधिता की मात्रा कितनी है। रबाकर जी ने भी साहित्य-अन्वय की स्वीकृति आर्यों का यही गहराई के साथ पालन किया है। साहित्य के क्षेत्र में इनका सबसे बड़ा आर्य अपने मातृ की कथारमक-अभिव्यक्ति है। प्रथम और सौन्दर्य के आर्यों को महश करके इन्होंने उन्हें उच्चतम साहित्यिक अथवा उच्चतम रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि मानवीयता के स्तर को उच्चतम प्रथम और सौन्दर्य का स्वरूप अतीतिक हो उठा है। इसका प्रमुख कारण इनकी मत्प्राप्तक कृति भी है। दूसरी ओर बड़ी से बड़ी कलात्मक दृष्टि से प्रेम और सौन्दर्य को देखते हैं बड़ी पर इनके चित्रण बड़े ही स्पष्ट तथा मानवीय भाव पड़ते हैं। ऐसे स्थलों पर वे प्रेम और सौन्दर्य के पदार्थवादी कवि जान पड़ते हैं और इनकी परम्परा अन्तःपुराणीय कही जा सकती है।

रबाकर जी के काव्य पर दृष्टिगत करने से हमें कुछ ऐसे तत्त्व मिलते हैं जिनके आधार पर हम इनकी साहित्यिक विचार-धारा का विमात्रण कर सकते हैं।

रबाकर जी कलात्मकता को अपने काव्य में विशेष स्थान देते हैं। एक प्रथम न हूँ अन्तःपुराणीय कवि कदा जा सकता है। किन्तु इनका अन्तःपुराणीय केशव की आत्मपरिक्रम के अन्तःपुराणीय होकर उस अन्तःपुराणीय की ओर मुझ हुआ है जिसमें हम अन्तःपुराणीय को अन्तःपुराणीय माना गया है जिससे हम-मिथि नहीं होती। अन्तःपुराणीय इनके काव्य में कला और अन्तःपुराणीय का अनुभव अन्तःपुराणीय दिखाई पड़ता है। इनकी कला का अन्तःपुराणीय इनकी चित्रण-शक्ति,

इनके भाषा-सौष्ठव, भाषा-सौन्दर्य, शृंगार, प्रवाह इत्यादि में रेषा का सफ़टा है। रमानुमति तो हृदय की वस्तु है और वह मनुष्य को वातावरण से भी प्राप्त हो सकता है और अल्पयम से भी। कला की सिद्धि साधना से ही सम्भव है और रखाकर की क्य काव्य बहुत कुछ साधना के आधार पर परिपुष्ट हुआ है इसमें संदेह नहीं। इस साधना के लिए इन्होंने अपने मस्तिष्क तथा अपनी हृदय दोनों को सबग बनाए रखा है। इनका अल्पयम विस्तृत रहा है। काव्य सिद्धांतों से वे बहुत कुछ अवगत हैं और उनके उचित उपयोग को भी जानते हैं। दूसरी ओर वे सूक्ष्मदर्शी हैं। इनका ज्ञान बहुत ही व्यापक है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में इनकी जानकारी बहुत विस्तृत है। मानव-स्वभाव के वे पंडित हैं और दैनिक जीवन की सामान्य से सामान्य भटना को वे अपने काव्य की सफ़ट सामग्री बना लेते हैं। वास्तव में ऐसी व्यापक दृष्टि रकनेवाले साहित्यकार ही सज्जनि कहलाये के अधिकारी हो सकते हैं।

भाषा की दृष्टि से रखाकर की अपने काव्य में मौखिक आदर्शों का परिचय देते हैं। इन्होंने मजमापा का एक बड़ा ही सौम्य तथा सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। मन्ददास की संगीतात्मकता तथा मापुरी, बनारस की गहरी अनुमति, रेष की कल्पना तथा विहारी की कलात्मकता के आधार पर इन्होंने बड़ी ही सुसंगठित तथा प्रौढ-भाषा का निर्माण किया है। विदुषा के आधार पर इतने उच्चस्तर की भाषा का निर्माण करके भी रत्नाकर जी ने उसे लोक-प्रचलित रूप देने का प्रयत्न किया है जो उनकी व्यवहार-बुद्धि का परिचायक है।

उन्हीं कवियों के समान अथवा रीति युग के कवियों के आदर्श पर वे केवल कुछ ही शृंगार पर अधिकार करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस तथ्य के पीछे भी इनकी साधनात्मक दृष्टि का पता चलता है। बनाहरी पर इन्होंने एक आधिपत्य प्राप्त किया है तथा प्रबन्ध-रचना के लिए इन्होंने रोका को पूरा तथा अपना बना लिया था। इन कवियों के ऊपर इनका जो अधिकार था उसके फलस्वरूप इन्हें बनानन्द देव पद्याकार तथा मन्ददास जैसे कवियों की समकक्षता प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। रखाकर की काव्य को भाषामिप्यजना का साधन मानते हैं। वे उसकी उपयोगिता पर उठना प्यार नहीं देते। सम्भव है इनके इस दृष्टिकोण के कारण इस युग में इनके काव्य की महत्ता को ही हुई जान पड़े किन्तु रत्नाकर जी में आधुनिकता की दृष्टि से राही यथा वर्म-संस्थापना मालकतावाद भव-जागरण दृष्टि आदि तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं। अतएव ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनके विचार अपने युग की

पूरातया ठपका कर रहे थे। यह अक्षर्य है कि वे पराबलवादी साहित्यकार थे और काम्य की विचारधारा ही इनका आधार था। अतएव इन्होंने उसी को अपनाया और उसी को अपना आधार बनाया।

संक्षेप में रत्नाकर की यह साहित्यिक विचारधारा विडम्बार्थ, काल्पनिक रसपूष तथा आत्मविद्व-तन्मयतापूष थी। अपने आदर्श-मातन में इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है इसमें कोई संदेह नहीं।

---

उपसंहार



## हिन्दी साहित्य में रत्नाकर का स्थान

कवि के गौरव की परीक्षा हम उसकी प्रभावशक्ति की शक्ति तथा उसके संदेश के आधार पर करते हैं। कवि हमारे मर्म का स्वयं कितनी सफ़लता के साथ कर सकता है अथवा वह हमें नव-जागृति अथवा नव-विमर्श के चिन्ता सफल संदेश दे सकता है, इन्हीं तथ्यों पर कवि का महत्व आश्रित है। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि की कला तथा वस्तु-विषय कितनी सफल है।

रत्नाकर की भी परीक्षा यदि इन सिद्धांतों के आधार पर की जाए तो यह पता चलेगा कि वे प्रथम तत्त्व के तो पूर्ण अधिकारी हैं किन्तु द्वितीय तत्त्व को वे प्रत्यक्षतः खेद नहीं कर रहे हैं। इसलिए इनका कलाकार का रूप कितना विकसित होकर हमारे सम्मुख आया है, उतना संदेश-वाहक का नहीं। इस तथ्य पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि रत्नाकर जो हिन्दी-साहित्य की कई युगों की परम्परा के उपसंहार-स्वरूप हमारे सम्मुख अवतीर्ण हुए। धीरे-धीरे मरिचि-काव्य तथा रीति-काव्य की परम्पराएँ तो अपना अपना प्रभाव साहित्य-क्षेत्र में छोड़ ही चुकी थीं। भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय-भावना नवनिर्माण के प्रति सजगता तथा मानवतावाद की मूर्तियों की जन-जीवन को प्रभावित कर रही थी। रत्नाकर की इन सम्पूर्ण मूर्तियों के एक समन्वित रूप बनकर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

रत्नाकर का युग भारतीय समाज में विषमता का युग था। अंग्रेजी शासन का कुप्परियास वर्ग-भेद के रूप में व्यक्त हो रहा था। एक ओर जमींदारों और ठाकुरदारों की सम्पन्नता और विद्यासिद्धि थी दूसरी ओर जन-साधारण की दुमुका और पीड़ा। शिक्षा का स्वरूप संस्कृत के आधार पर निर्मित नहीं हुआ था। अतः नवीन शिक्षा हमें अपनी संस्कृति से गिराती ही आदि थी। अतः सामाजिक रीति-निर्वाहों को सूर्योत्थापूर्व समझ कर त्यागा जा रहा था। वर्ग के क्षेत्र में भी यही दृष्टा थी। ऐसी स्थिति में प्राचीनतावादी कवि अथवा कलाकार, ( इन विषमताओं से अधिक से अधिक दूर रहकर अपनी परम्पराओं के बंधन में बँधा हुआ ) अविगत मार्ग को पकड़े हुए एक ही रास्ते से चलता चला जाता है। रत्नाकर जी इसी प्रकार के कवि थे। वे भक्ति



रिति तथा भारतेन्दु-युग की परिस्थितियों से प्रभावित थे। भक्त-कवियों में चूरी नंददास, रसदास तथा बनारस जैसे कवियों के समकक्ष उन्हें रचा जा सकता है। रितिकालीन कवियों में भूपाल, मतिराम, बिहारी देव दास परमाकर और द्विवेद जैसे कवियों से इन्होंने बहुत कुछ प्राप्त किया। भारतेन्दु-युग की कल्याणक तथा कलकत्ताक प्रवृत्तियों का समन्वित रूप इनके हरिश्चन्द्र तथा गंगावतरण काव्यों में मिलता है। इस प्रकार पंडित नंददुखारे बाजपेयी के शब्दों में रत्नाकर जी के विषय में यह मत दिया जा सकता है—“भक्तों की अपेक्षा वे साधारणतया अधिक भावनावादी, अधिक शुद्ध और गहन संगीत के श्रमण्यो हैं। इस कद तक तो कि भक्तों और गृहस्थों के बीच की कड़ी रत्नाकर के रूप में प्रकट हुई थी। उनकी रचना में उनका नया श्रमण्य, नया प्रकल्प-शैली और नए बुद्धिवादी युग का व्यक्तित्व भी दिखाई देता है।”

इस प्रकार रत्नाकर का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रकता है। ये एक ओर कलावादी है तो दूसरी ओर बुद्धिवादी का व्यक्तक भी इनमें विद्यमान है। अतः वे अपने युग से पूर्णतया वदस्थ हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वही भी प्राचीनता में भी इन्होंने विचार की गभीरता का ध्यान रखा है और इसलिये रितिकालीन परम्परा का वासन करते हुए भी वे उस रूप के पोषक नहीं बने जा सकते भी इन्हें कृष्णहीन बना देता। ये भावुक हैं किन्तु असंतुलित नहीं हैं और बुद्धिवादी होते हुए भी इनमें सरमता है। यही इनके व्यक्तित्व की विशेषता है जो इन्हें हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थाव प्रदान करती है।

कवि के काव्य में जीवन के त्रिद्वि नव-संदेह का होना उसके गौरव का सूचक है यह पहले कहा जा चुका है। इस कमीटी पर भी इस रत्नाकर जी की परीक्षा करने का प्रयत्न करेंगे। रत्नाकर जी के विषय में पंडित नंददुखारे बाजपेयी जी का कथन है—“विगत युग के संस्कारों की श्रमण्यता नव्यतर युग में करवा एक हृदयम प्रकल्प है। वह काव्यसुतोमन और गारबास्पद हो सकता है किन्तु वह युग का अधिवाप्य काव्य नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्ट साहित्य सदा अधिवाप्य ही हुआ करता है किन्तु रत्नाकर जी अपने काव्य में जीवन की ऐसी कोई मौलिकता और अधिवाप्यता खोज नहीं पाए।”

१. हिन्दी साहित्य, बीतवीं शताब्दी, पृष्ठ १०।

२. हिन्दी साहित्य, बीतवीं शताब्दी, पृष्ठ ११।

बाबुपयी जी की यह आलोचना यद्यपि अनेक क्षणों में सत्य कही जा सकती है, किन्तु कुछ बातें इसके प्रतिवृत्त पक्ष में भी उपस्थित की जा सकती हैं। बाबुपयी जी का प्रथम आरोप यह है कि रत्नाकर जी ने विगत युग के संस्कारों की स्थापना करने का प्रयत्न किया है। यदि वास्तव में रत्नाकर जी प्रचारक रूप में संस्कारों की स्थापना करते हुए मात्र भी शिष्ट कार्य तो हम स्वतन्त्रता श्रेणियों कि वे भक्ति तथा गुरु के संस्कारों का स्थापन करना चाहते हैं। सम्भवतः भक्ति के संस्कारों को इस घम-प्रायः भारतवर्ष में विगतयुगीन कहना विशेष उपयुक्त नहीं होगा। गुरु और प्रेम-सम्बन्धी संस्कारों को तत्काल-शास्त्रियों ने शक्यत माना ही है किन्तु यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि बाबुपयी जी का तात्पर्य बामनामय गुरु के विषय से है, ज्ञान-मध्य-युगीन समाज की किरौपता थी तो भी यह कहना पड़ेगा कि इस प्रकार की विहासिता का समाज से उस समय तक शोष भी नहीं हो गया था। रत्नाकर जी रत्नबाहों में पड़े थे और वे रत्नबाहों विहासिताओं के केंद्र थे इसमें संशय नहीं। रीतिभंग में भी गुरुपूजा रूपों के केंद्र नहीं रत्नबाहों थे साधारण गृहस्थ-जीवन नहीं। इस प्रकार रत्नाकर जी के शिष्ट यह सब विषय इनके अपने ही युग में सम्मिश्रित थे। कृत्रिमता इनकी शैली में हो सकती है और इससे बाबुपयी जी ने रत्नाकर जी के काव्य को सुशोभन और गौरवास्पद् स्वीकार किया ही है। क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जो सुशोभन और गौरवास्पद् है वह स्वतः आदर्श है? हमें केवल सीद्ध्य का ही आदर्श हो सकता है और वह आदर्श काव्य के आधार पर परिचित किया गया भी हो सकता है, किन्तु जो सीद्ध्य का आदर्श है वह अचरम ही हमें अभिमूक्त करने की शक्ति रखता है और यही इनकी महत्त्वता है। हम सीद्ध्य की अस्मरणमयी धारा में पारक अभिधार्यताः कुछ क्षणों के शिष्ट निश्चित होना चाहता है। क्या हमारे मनोमार्थों को रक्ष-मध्य करके परिश्रमता की संज्ञा तक पहुँचा देने के शिष्ट यह काव्य पयाप्त नहीं है और क्या ऐसा काव्य को उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता?

भगवान् कृष्ण के लौकिक-स्वरूप का अलौकिक विचित्र विचारयति सुर और मीरा जैसे भक्त कवियों से भी किया था। कृष्ण को आश्चर्यजन मानकर इन कवियों ने भी मानव-रूप का मधोवैज्ञानिक विचित्र हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। रत्नाकर जी इन दोनों के सम्मिश्रित रूप हैं और इनके काव्य से यदि एक ओर हमें भक्ति की परिश्रमता प्रभावित होती हुई

विश्वसाई पक्षी है तो दूसरी ओर मानव-स्वभाव का चित्र उपस्थित करने के हमारे सम्मुख एक बपार्सेवादी साहित्यकार के रूप में उपस्थित होते हैं। हम पूर और तुलसी से लक्ष्मी तुलना करना आवश्यक नहीं समझते। मित्र ब-बुद्धों ने पूर और तुलसी को किसी भी वर्ग अथवा श्रेणी से ऊपर माना है परन्तु टीका भी है। रत्नाञ्जली का सुकपाञ्जल तो एक छोटिके कवियों के बीच में उपस्थित होना चाहिये जो मानव तुलनाकारों को चित्रित करने में भी असक्षम नहीं दिखते क्योंकि वह उनका स्वभाव है।

---

परिशिष्ट



## परिशिष्ट

### सहायक ग्रन्थों की सूची

- १ हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
- २ आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास डा० श्रीकृष्णदास
- ३ हिन्दी का आदि-काळ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
- ४ हिन्दी साहित्य की भूमिका,
- ५ आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास डा० सतीशदास शर्मा
- ६ आलोचनात्मक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा
- ७ बिहारी आचार्य पं० विरजनाथ प्रसाद मिश्र
- ८ काव्य-कल्पद्रुम, कन्दौपाकाक पोद्दार
- ९ महाभारत प्रसाद द्विवेदी और उनके पुत्र डा० उदयमानु सिंह
- १० काँप्रेस का इतिहास श्री हरिभाऊ उपाध्याय
- ११ अयोध्या का इतिहास, साका सीताराम
- १२ हिन्दी-साहित्य, बीसवीं-शताब्दी, आचार्य बन्धुद्वारी बाबुपेयी
- १३ बङ्ग-शातक की भूमिका डा० रामलाल शुक्ल 'रसमत्'
- १४ काव्य के रूप नाम् गुणाकराव
- १५ काव्य-दर्शन पं० रामशिव मिश्र
- १६ हिन्दी-साहित्य, बाहू स्वप्नसुन्दर दास
- १७ अष्टादश और अन्ध-धर्मशास्त्र, डा० रमणदास गुप्त
- १८ आचार्य ज्योतिबाबा, डा० हीराबाबा शिबिठ
- १९ रेखा-चित्र, श्री बभारसीदास ज्युर्वेदी
- २० राधाकृष्णदास प्रभाकराणी,
- २१ भारतेन्दु प्रभाकराणी,
- २२ भावसूत्र डा० श्रीकृष्णदास
- २३ भारतीय-साहित्य-शास्त्र बङ्गदेश उपाध्याय
- २४ कविता रत्नाकर, श्री कृष्णलाल शुक्ल,
- २५ बङ्गशातक परिशीलन, श्रीकृष्ण

- २६ बिहारी-रत्नाकर' की मूक्तिका, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर'
- २७ कविवर बिहारी, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर'
- २८ कोपोत्सव स्मारक संग्रह, बाबू रघुमधुसुन्दर दास
- २९ सुरदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
- ३० रत्नाकर जी की मन्नापत्नी, नागरी-मचारिणी-सभा कथी—( बाबू रघुम  
सुन्दरदास द्वारा सम्पादित )
- ३१ पत्र-पत्रिकाएँ : सरस्वती मासुरी, विगत-भारत तथा नागरी-मचारिणी-  
सभा की पत्रिका की शारुषे ।

